॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [१२]

श्री अष्टक प्रकरण

[गाथा और अर्थ]

-: प्रकाशक :-

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

साबरमती, अहमदाबाद

॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [१२]

श्री अष्टक प्रकरण

[गाथा और अर्थ]

—: कर्ता :—

सूरिपुरन्दर श्री हरिभद्रसूरिजी

—: पूर्वसम्पादक :—

आ. श्री जयानंदसूरिजी

—: संकलन :—

श्रुतोपासक

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अमदाबाद-३८०००५

Mo. 9426585904

email - ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

प्रकाशक : संवत २०७४

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभण्डार को भेट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
३० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद फाईनफेब (प्रा.) ली.
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-३८०००२
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02 शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत
(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन
A-901 गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-१२.
(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभण्डार,
चंदनबाला भवन, १२९, शाहुकर पेठ के पास, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-१
फोन : 044-23463107 (मो.) 9389096009

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड
७/८ वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : विरति ग्राफिक्स, अहमदाबाद, मो. **8530520629**
Email Id: Virtigrafics2893@gmail.com

१. अथ महादेवाष्टकम्

यस्य सङ्क्लेश-जननो, रागो नास्त्येव सर्वथा ।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु, शमेन्धनदवानलः ॥१॥

न च मोहोऽपि सज्ज्ञानच्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत् ।
त्रिलोकख्यातमहिमा, महादेव स उच्यते ॥२॥

अर्थ – आत्मा के स्वाभाविक स्वास्थ्य में बाधा करनेवाले राग का एक भी अंश जिसको नहीं हैं, समता रूपी काष्ठ को जलाकर भस्म करनेवाले भयंकर दावानल रूप द्वेष का भी किसी भी जीव के साथ एक भी अंश नहीं हैं, सम्यग् ज्ञान को रोकनेवाला और अशुद्ध वर्तन करानेवाला मोह भी नहीं हैं, जिनकी महिमा त्रिलोक में प्रसिद्ध है, वे ही महादेव हैं ।

यो वीतरागः सर्वज्ञो, यः शाश्वतसुखेश्वरः ।
क्लिष्टकर्मकलातीतः, सर्वथा निष्कलस्तथा ॥३॥

यः पूज्यः सर्वदेवानां, यो ध्येयः सर्वयोगिनाम् ।
यः स्त्रष्टा सर्वनीतीनां, महादेवः स उच्यते ॥४॥

अर्थ – जो वीतराग और वीतद्वेष हैं, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, शाश्वत सुख के स्वामी हैं, क्लेश रूप सांसारिक कारण जैसे कर्मों की कलाओं (भेदों) से रहित हैं, सर्व प्रकार से निष्कल हैं – शरीर के सभी अवयवों से रहित हैं,

भवनपति आदि सर्व देवों के पूजनीय हैं, सभी योगियों - अध्यात्म-चिंतकों के ध्यान करने योग्य हैं, उपदेश देने के द्वारा नैगम आदि नयों के और साम आदि नीति के उत्पादक हैं, वह महादेव कहलाते हैं ।

एवं सद्वृत्तयुक्तेन, येन शास्त्रमुदाहृतम् ।
शिववर्त्म परं ज्योतिस्त्रिकोटीदोष-वर्जितम् ॥५॥

अर्थ - इस प्रकार राग आदि दोषों से रहित शुद्ध वर्तन से युक्त जिस देव ने मोक्ष के मार्ग रूप, महामोह रूप घोर अंधकार का नाश करने में समर्थ होने से प्रदीप रूप और कष-छेद-ताप इस त्रिकोटी परीक्षा में दोषों से रहित शास्त्र का उपदेश दिया है, वे महादेव हैं ।

यस्य चाराधनोपायः, सदाऽऽज्ञाभ्यास एव हि ।
यथाशक्तिविधानेन, नियमात् स फलप्रदः ॥६॥

अर्थ - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार लाभ-नुकसान की तुलना रूप विधि से यथाशक्ति आज्ञा का अभ्यास करना यही जिनकी आराधना का उपाय है - यथाशक्ति आज्ञा का पालन करने से ही जिनकी आराधना हो सकती है और जिनकी आज्ञा का अभ्यास ही नियम से फल देनेवाला है, वे महादेव कहे जाते हैं ।

सुवैद्यवचनाद् यद्वद्, व्याधेर्भवति संक्षयः ।
तद्वदेव हि तद्वाक्याद् ध्रुवः संसारक्षयः ॥७॥

अर्थ – जिस प्रकार कुशल वैद्य के वचन के पालन से जड़मूल से व्याधि का विनाश होता हैं, उसी प्रकार महादेव के उपदेश के पालन से संसार का अवश्य क्षय होता है।

एवम्भूताय शान्ताय, कृतकृत्याय धीमते ।
महादेवाय सततं, सम्यग्भक्त्या नमो नमः ॥८॥

अर्थ – उपर कहे हुए लक्षणवाले, राग–द्वेष रहित प्रशान्त, कृतकृत्य, केवलज्ञान रूपी बुद्धि से युक्त, महादेव को सदा सम्यक् प्रकार की भक्ति से वारंवार नमस्कार हो।

● ● ●

२. अथ स्नानाष्टकम्

द्रव्यतो भावतश्चैव, द्विधा स्नानमुदाहृतम् ।
बाह्यमाध्यात्मिकं चेति, तदन्यैः परिकीर्त्यते ॥१॥

अर्थ – तत्त्ववेत्ताओं ने द्रव्य और भाव दो प्रकार का स्नान कहा है । अन्य दर्शनकार द्रव्यस्नान को बाह्य (शरीर – संबंधी) स्नान तथा भावस्नान को आध्यात्मिक (मन – संबंधी) स्नान कहते हैं । द्रव्य स्नान – जल आदि द्रव्य से शरीर की शुद्धि करना । द्रव्य स्नान के दो प्रकार हैं १. प्रधान द्रव्य स्नान, २. अप्रधान द्रव्य स्नान । जो भावस्नान का कारण बने वह प्रधान द्रव्य स्नान । जल आदि से स्नान करने के बाद देवता आदि की पूजा की जाय तो वह स्नान प्रधान द्रव्य स्नान होता है, अन्यथा अप्रधान द्रव्यस्नान होता है । यह हकीकत ग्रंथकार ने आगे दूसरे–तीसरे श्लोक में बतायी है । भावस्नान – शुभ ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि करना ।

जलेन देहदेशस्य, क्षणं यच्छुद्धिकारणम् ।
प्रायोऽन्यानुपरोधेन, द्रव्यस्नानं तदुच्यते ॥२॥

अर्थ – जो स्नान जल से शरीर के देश–चमड़ी की क्षणभर शुद्धि करे वह द्रव्यस्नान कहा जाता है । यह स्नान नये आनेवाले मैल को रोकने में असमर्थ होने से क्षणभर के लिए ही शुद्धि करता है । अरे ! रोगग्रस्त शरीर को क्षणभर

के लिए भी शुद्धि नहीं कर सकता । (इसीलिए गाथा में प्रायः शब्द का प्रयोग किया है । अर्थात् यह स्नान बाह्य शुद्धि भी करता ही है यह कोई नियम नहीं है । यदि बाह्य शुद्धि भी करता है तो क्षणभर के लिए) यह स्नान भावस्नान का कारण नहीं बनने से अप्रधान–गौण द्रव्य स्नान है ।

कृत्वेदं यो विधानेन, देवताऽतिथि–पूजनम् ।
करोति मलीनारम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥३॥

अर्थ – जो गृहस्थ विधिपूर्वक द्रव्यस्नान करके देवता अतिथि वगैरह का पूजन करता है, उसका यह द्रव्यस्नान भी प्रशस्त है ।

यह द्रव्यस्नान भावस्नान का कारण होने से प्रधान (मुख्य) द्रव्यस्नान है । इसीसे यह प्रधान द्रव्यस्नान भी प्रशस्त है ।

भावविशुद्धिनिमित्तत्वात्, तथानुभवसिद्धितः ।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि, तदन्यगुणभावतः ॥४॥

अर्थ – कारण कि यह द्रव्यस्नान भावशुद्धि का कारण होता है । यह हकीकत साधकों को अनुभवसिद्ध है । यद्यपि इस स्नान में अप्काय आदि जीवों की विराधना होने से थोड़ा दोष है, फिर भी अन्यसम्यग्दर्शन आदि का शुद्धि रूप गुण भी है । दोष अल्प हैं, जबकि गुण अधिक हैं । जिस प्रवृत्ति से चार आने खोकर रूपया मिलता हो, ऐसी प्रवृत्ति भी प्रशस्त हैं । इस विषय में कौन बुद्धिशाली मना कर सकेगा ?

अधिकारिवशाच्छास्त्रे, धर्मसाधनसंस्थितिः ।
व्याधिप्रतिक्रियातुल्या, विज्ञेया गुणदोषयोः ॥५॥

अर्थ – शास्त्र में गुण और दोष को लक्ष्य में रखकर द्रव्यस्नान और भावस्नान रूप धर्मसाधन की व्याधि के प्रतिकार जैसी सुंदर व्यवस्था की गई हैं, जिस प्रकार एक ही प्रकार का उपाय एक रोगी को गुण रूप होता हैं और दूसरे रोगी को दोष रूप होता हैं, उसी प्रकार द्रव्यस्नान मलिनारम्भी–पाप–प्रवृत्ति करनेवाले गृहस्थ को ही गुणकारी हैं, साधु के लिए दोषकारी हैं । इससे द्रव्यस्नान के अधिकारी गृहस्थ ही है ।

ध्यानाम्भसा तु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम् ।
मलं कर्म समाश्रित्य, भावस्नानं तदुच्यते ॥६॥

अर्थ – जो स्नान ध्यान (–शुभचित्त की एकाग्रता) रूपी पानी से सदा के लिए आत्म शुद्धि का कारण बनता हैं वह ज्ञानावरणीय आदि कर्म रूप भावमल को दूर करनेवाला होने से भावस्नान हैं ।

ऋषीणामुत्तमं ह्येतन्निर्दिष्टं परमर्षिभिः ।
हिंसादोषनिवृत्तानां, व्रतशीलविवर्धनम् ॥७॥

अर्थ – व्रत और शील की वृद्धि करनेवाला यह उत्तम भाव स्नान, हिंसा आदि दोषों से निवृत्त मुनियों के लिए ही होता हैं (अथवा मुनियों के लिए केवल यह भाव स्नान ही

होता हैं द्रव्य स्नान नहीं) ऐसा सर्वज्ञ भगवंतों ने कहा हैं।

स्नात्वाऽनेन यथायोगं, निःशेषमलवर्जितः ।
भूयो न लिप्यते तेन, स्नातकः परमार्थतः ॥८॥

अर्थ - अपनी योग्यता के अनुसार द्रव्यस्नान अथवा भावस्नान के द्वारा आत्मशुद्धि करके जीव (परंपरा से अथवा उसी भव में) सकल कर्मों के मल से रहित बनता हैं। इस प्रकार एक बार शुद्ध होने के बाद वह कभी भी कर्म-मल से लिप्त नहीं होता। इससे वह वास्तविक रीति से स्नात-स्नान किया हुआ बनता हैं।

(इस श्लोक के द्वारा आत्मशुद्धि के लिए गंगा आदि में (अप्रधान) द्रव्य-स्नान करनेवाले अज्ञान लोगों को अपनी योग्यता के अनुसार द्रव्य स्नान अथवा भावस्नान करने का सूचन किया हैं।)

• • •

३. अथ पूजाष्टकम्

अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
अशुद्धेतरभेदेन, द्विधा तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥१॥

अर्थ – तत्त्वदर्शियों ने अष्टपुष्पी नाम की पूजा अशुद्ध और शुद्ध भेद से दो प्रकार की कही हैं। अशुद्ध पूजा स्वर्ग को देनेवाली हैं। शुद्ध पूजा मोक्ष को देनेवाली हैं।

शुद्धागमैर्यथालाभं प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वापि, पुष्पैर्जात्यादि सम्भवैः ॥२॥

अष्टाऽपायविनिर्मुक्त – तदुत्थगुणभूतये ।
दीयते देवदेवाय या, साऽशुद्धेत्युदाहृता ॥३॥

अर्थ – आठ अपाय (कर्मों) से मुक्त और आठ कर्मों की मुक्ति से उत्पन्न हुए ज्ञान आदि आठ गुण रूपी विभूतिवाले देवाधिदेव की पुष्पों से होनेवाली पूजा को सर्वज्ञों ने अशुद्ध–सावद्य पूजा कही हैं।

सङ्कीर्णैषा स्वरूपेण, द्रव्याद् भावप्रसक्तितः ।
पुण्यबन्धनिमित्तत्वाद्, विज्ञेया स्वर्गसाधनी ॥४॥

अर्थ – यह अशुद्ध पूजा स्वरूप से, पाप और शुभ भाव से मिश्रित हैं। इस पूजा में सचित्त द्रव्य का उपयोग होने से अवद्य – पाप लगता हैं और भक्ति होने से शुभ भाव उत्पन्न होते है। इससे यह पूजा (कर्मक्षय का कारण न

बनकर) पुण्य-बंध का कारण बनने से स्वर्ग-दायक हैं। ऐसा होने पर भी परंपरा से शुद्ध पूजा का कारण बनने के द्वारा यह पूजा भी मोक्ष को देनेवाली होती हैं।

या पुनर्भावजैः पुष्पैः, शास्त्रोक्तगुणसङ्गतैः ।
परिपूर्णत्वतोऽम्लानै - रत एव सुगन्धिभिः ॥५॥

अर्थ - आत्मा के शुभ परिणाम रूप भाव से उत्पन्न हुए, शास्त्रोक्त समिति आदि गुणों से युक्त, परिपूर्ण होने से अम्लान और सुगंधी (आठ) पुष्पों से की जानेवाली पूजा, शुद्ध पूजा हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥६॥

अर्थ - अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरुभक्ति, तप, ज्ञान ये आठ सुपुष्प हैं। इस प्रकार शुद्ध अष्टपुष्पी पूजा के स्वरूप को जाननेवाले कहते हैं।

एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरःसर ।
दीयते पालनाद्या तु, सा वै शुद्धेत्युदाहृता ॥७॥

अर्थ - अहिंसा आदि भावपुष्पों के पालन करने के द्वारा इन आठ पुष्पों से बहुमानपूर्वक देवाधिदेव की पूजा शुद्ध पूजा हैं। अर्थात् अहिंसा आदि आठ गुणों का पालन यही बहुमान पूर्वक भाव अष्टपुष्पी पूजा हैं। कारण कि भगवान की आज्ञा का पालन ही भगवान की वास्तविक

पूजा और बहुमान हैं । भगवान की आज्ञा-खंडन करके की हुई पूजा, यह भाव-पूजा तो क्या द्रव्य पूजा भी नहीं हैं । भगवान की आज्ञा का पालन अहिंसा आदि के पालन से ही होता हैं । इससे अहिंसा आदि का पालन यही बहुमानपूर्वक भगवान की अष्टपुष्पी भाव पूजा हैं ।

प्रशस्तो ह्यनया भावस्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः ।
कर्मक्षयाच्च निर्वाण-मत एषा सतां मता ॥८॥

अर्थ - शुद्ध अष्ट पुष्पी पूजा से प्रशस्त आत्म-परिणाम उत्पन्न होते हैं । प्रशस्त आत्मपरिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्म-मल का अवश्य नाश होता हैं । संपूर्ण कर्म-क्षय से मोक्ष-प्राप्ति होती हैं । इससे विद्वान साधुओं को यह अष्टपुष्पी भाव-पूजा इष्ट हैं ।

● ● ●

४. अथाग्निकारिकाष्टकम्

कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाहुतिः ।
धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥१॥

अर्थ - संसार-त्यागी साधु को कर्म रूपी काष्ठ को जलाने के लिए धर्मध्यान रूपी अग्नि के द्वारा शुभ भावना रूपी आह्छुतिवाली और कर्म रूपी काष्ठ को जलाने में समर्थ अग्निकारिका करनी चाहिए । अर्थात् साधु को कर्म रूपी काष्ठ को जलाने के लिए धर्मध्यान रूपी अग्नि को जलाकर उसमें शुभ भावना रूपी आहुति देकर अग्निकारिका करनी चाहिए ।

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता, ज्ञानध्यान-फलं स च ।
शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं, शिवधर्मोत्तरे ह्यदः ॥२॥

अर्थ - दीक्षा का स्वरूप जाननेवाले तत्त्वज्ञों ने दीक्षा मोक्ष के लिए कही हैं। मोक्ष ज्ञान और ध्यान से ही प्राप्त होता हैं, इस प्रकार शास्त्र में कहा गया हैं। कारण कि शैव दर्शन के शिवधर्म नामक आगम विशेष में यह कहा गया हैं-

पूजया विपुलं राज्य - मग्निकार्येण सम्पदः ।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥३॥

अर्थ - देव की पूजा से राज्य मिलता हैं । द्रव्य अग्निकारिका से समृद्धि मिलती हैं। तप पाप की शुद्धि (अशुद्ध कर्म के क्षय) के लिए हैं। ज्ञान और ध्यान मोक्ष-दायक है।

पापं च राज्यसम्पत्सु, सम्भवत्यनघं ततः ।
न तद्धेत्वोरुपादान - मिति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥४॥

अर्थ - राज्य और संपत्ति से पाप लगता हैं । अतः साधु को राज्य और संपत्ति देनेवाली पूजा और अग्निकारिका का सेवन नहीं करना चाहिए । यह बात मुमुक्षुओं के द्वारा सम्यग् विचारणीय हैं ।

विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् ।
तदियं नान्यथा युक्ता, तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥

अर्थ - राज्य और संपत्ति से लगे हुए पाप की शुद्धि तप से ही होती हैं, न कि दान आदि से, अतः मुमुक्षुओं को द्रव्य अग्निकारिका युक्त नहीं हैं । अर्थात् प्रथम पूजा - अग्निकारिका से राज्य और संपत्ति प्राप्तकर उनसे पाप करना, उसके बाद उस पाप की शुद्धि के लिए तप का सेवन करना । इससे बहेतर हैं कि राज्य और संपत्ति देनेवाली द्रव्य पूजा और द्रव्य अग्निकारिका का त्याग करना चाहिए । यही बात महात्मा व्यास ने भी कही हैं ।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥६॥

अर्थ - जो व्यक्ति धर्म के लिए धन प्राप्त करता हैं, इससे तो धन प्राप्त नहीं करना ही श्रेष्ठ हैं । प्रथम शरीर को कीचड़ से गंदा करना, बाद में पानी से धोना, इससे तो

शरीर को कीचड़ से गंदा नहीं करना, यही श्रेष्ठ हैं । धन प्राप्त करने में पाप लगता हैं । इससे प्राप्त धन के व्यय से उस पाप की शुद्धि करनी पड़ती हैं । इस प्रकार आगे जाकर फिर से पीछे गिरना पड़ता हैं । इससे तो यही उत्तम हैं कि पाप करानेवाले धन को प्राप्त करने का प्रयत्न ही नहीं करना चाहिए, जिससे पाप की शुद्धि करनी न पड़े ।

मोक्षाध्यसेवया चैताः, प्रायः शुभतरा भुवि ।
जायन्ते ह्यनपायिन्य इयं सच्छास्त्रसंस्थितिः ।।७।।

अर्थ - द्रव्य अग्निकारिका से प्राप्त संपत्ति की अपेक्षा प्रायः मोक्षमार्ग (सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र) की साधना से अधिक शुभ संपत्ति प्राप्त होती हैं । तथा यह संपत्ति विघ्नों से रहित होती हैं । आप्त आगम का यह अटल नियम हैं ।

इष्टापूर्त्तं न मोक्षाङ्गं, सकामस्योपवर्णितम् ।
अकामस्य पुनर्योक्ता, सैव न्याय्याग्निकारिका ।।८।।

अर्थ - इष्टापूर्त मोक्ष का कारण नहीं हैं, यह तो अपने सिद्धान्त में ही कहा गया हैं । कारण कि स्वर्ग आदि सांसारिक सुख की कामनावाले के लिए इष्टापूर्त का विधान हैं । मोक्ष की इच्छावाला तो पूर्व में कथित भाव अग्निकारिका का ही सेवन करे यही युक्तियुक्त हैं ।

• • •

५. अथ भिक्षाष्टकम्

सर्वसम्पत्करी चैका, पौरुषघ्नी तथाऽपरा ।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञै-रिति भिक्षा त्रिधोदिता ॥१॥

अर्थ - परमार्थ को जाननेवालों ने तीन प्रकार की भिक्षा कही हैं । १. सर्व संपत्करी - सर्व प्रकार की संपत्ति को देनेवाली । २. पौरुषघ्नी पुरुषार्थ का नाश करनेवाली । ३. वृत्तिभिक्षा - वृत्ति - आजीविका के लिए भिक्षा ।

यतिर्ध्यानादियुक्तो यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः ।
सदानारम्भिणस्तस्य, सर्वसम्पत्करी मता ॥२॥

वृद्धाद्यर्थमसङ्गस्य, भ्रमरोपमयाऽटतः ।
गृहिदेहोपकाराय, विहितेति शुभाशयात् ॥३॥

अर्थ - १. ध्यान, ज्ञान आदि में तत्पर (ध्यान अभ्यंतर तप की क्रिया हैं । इसलिए यहाँ क्रिया और ज्ञान इन दोनों को ग्रहण किया गया हैं ।) २. सदा गुरु-आज्ञाकारी । ३. सदा आरंभ से रहित । ४. (स्व का लक्ष्य कम कर) वृद्ध, बाल, ग्लान आदि के लिए भिक्षा लेनेवाला । ५. शब्दादि विषयों में अनासक्त ६. भ्रमर के समान भिक्षा लेनेवाला । ७. गृहस्थ के (और स्वशरीर के) उपकार के आशय से भिक्षा के लिए भ्रमण करनेवाला । इस प्रकार के यति की भिक्षा सर्वसम्पत्करी भिक्षा हैं ।

प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो यस्तद्विरोधेन वर्तते ।
असदारम्भिणस्तस्य, पौरुषघ्नीति कीर्तिता ।।४।।

अर्थ – जो साधु प्रव्रज्या स्वीकारकर उसका पालन नहीं करता है, प्राणिपीडा आदि अशुभ प्रवृत्ति करता हैं, उसकी भिक्षा पौरुषघ्नी हैं ।

धर्मलाघवकृन्मूढो, भिक्षयोदरपूरणम् ।
करोति दैन्यात् पीनाङ्गः, पौरुषं हन्ति केवलम् ।।५।।

अर्थ – शरीर से हृष्ट–पुष्ट होने पर भी पौरुषघ्नी भिक्षा लेनेवाला १. धर्म की लघुता करता हैं । २. (अपनी अनुचित भिक्षा को भी उचित मानने से) मूढ़ बनता हैं । ३. दीनता से भिक्षा लेकर उदरपूर्ति करता हैं । ४. इससे वह पुरुषार्थ का केवल विनाश करता हैं (पुरुषार्थ जरा भी नहीं करता । शुद्ध भिक्षा के लिए घूमना आदि नहीं करता ।)

निःस्वान्धपङ्गवो ये तु, न शक्ता वै क्रियान्तरे ।
भिक्षामटन्ति यृत्पर्थं, वृत्तिभिक्षेयमुच्यते ।।६।।

अर्थ – जो निर्धन, अंधे और लंगड़े हैं और दूसरी वृत्ति करने में असमर्थ है, इसलिए अपने जीवन निर्वाह के लिए भिक्षा ग्रहण करते है, उनकी यह भिक्षा वृत्तिभिक्षा हैं ।

नातिदुष्टापि चामीषा – मेषा स्यान्न ह्यमी तथा ।
अनुकम्पानिमित्तत्वाद्, धर्मलाघवकारिणः ।।७।।

अर्थ – वृत्ति भिक्षा सर्वसंपत्करी भिक्षा के समान

अतिश्रेष्ठ भी नहीं हैं तथा पौरुषघ्नी भिक्षा के समान अतिदुष्ट भी नहीं हैं । कारण कि निर्धन आदि जीव अनुकंपा के योग्य होने से (जैन) धर्म की लघुता (अवहेलना) में कारण नहीं बनते हैं ।

दातॄणामपि चैताभ्यः, फलं क्षेत्रानुसारतः ।
विज्ञेयमाशयाद्वापि, स विशुद्धः फलप्रदः ॥८॥

अर्थ – यति आदि तीन प्रकार के भिक्षुकों को भिक्षा देनेवालों को क्षेत्र-पात्र, देय-वस्तु, काल आदि के अपने आशय के अनुसार दान का फल मिलता हैं । सर्व कारणों में आशय मुख्य कारण हैं भिक्षा देने में विशुद्ध आशय विशिष्ट प्रकार का फल देता हैं ।

• • •

६. अथ सर्वसम्पत्करी भिक्षाष्टकम्

अकृतोऽकारितश्चान्यै - रसंकल्पित एव च ।
यतेः पिण्डः समाख्यातो, विशुद्धः शुद्धिकारकः ॥१॥

अर्थ - जो आहार स्वयं ने बनाया न हो, अन्य के पास बनवाया न हो तथा 'यह साधु को दूँगा' ऐसे दान के संकल्प से रहित हो, ऐसा ही पिंड मुनि के लिए विशुद्ध कहा गया हैं। ऐसा विशुद्ध पिंड आत्मा की शुद्धि करनेवाला हैं।

यो न संकल्पितं पूर्वं, देयबुद्ध्या कथं नु तम् ।
ददाति कश्चिदेवं च, स विशुद्धो वृथोदितम् ॥२॥

अर्थ - जो पिंड देने की बुद्धि से पूर्व में संकल्पित नहीं हैं उसे कोई भी व्यक्ति किस प्रकार देगा ? अर्थात् नहीं देगा। अतः जो कहा गया कि 'असंकल्पित पिंड विशुद्ध हैं', वह निरर्थक हैं।

न चैवं सद्गृहस्थानां, भिक्षा ग्राह्या गृहेषु यत् ।
स्वपरार्थं तु ते यत्नं, कुर्वते नान्यथा क्वचित् ॥३॥

अर्थ - असंकल्पित पिंड का असंभव उतना नहीं, कि सद्गृहस्थों के घरों में से भिक्षा भी नहीं ली जा सकती। कारण कि वे स्व-पर यानी उभय के लिए रसोई बनाते हैं। केवल अपने लिए कभी भी रसोई नहीं बनाते।

सङ्कल्पनं विशेषेण, यत्रासौ दुष्ट इत्यपि ।
परिहारो न सम्यक् स्याद् यावदर्थिकवादिनः ॥४॥

विषयो वास्य वक्तव्यः, पुण्यार्थं प्रकृतस्य च ।
असम्भवाभिधानात् स्या-दाप्तस्यानाप्ततान्यथा ।।५।।

अर्थ - जिस पिंड में अमुक ही भिक्षुक को देना ऐसा विशेष संकल्प किया जाए, वही पिंड दूषित हैं ऐसा बचाव नहीं कर सकते । कारण कि तुम्हारे शास्त्र में यावदर्थिक पिंड - किसी भी भिक्षुक के संकल्प से बनाया हुआ पिंड यति को नहीं कल्पता ऐसा विधान हैं । **विषयो वास्य वक्तव्यः** फिर भी यदि तुमको बचाव करना ही है तो किसी भी भिक्षु के संकल्प से बनाया गया पिंड नहीं कल्पता ऐसा नहीं कहना चाहिए । किन्तु अमुक-अमुक भिक्षु के लिए बनाया गया पिंड नहीं कल्पता इसकी स्पष्टता करनी चाहिए ।

विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि ।
सङ्कल्पनं क्रियाकाले, तद् दुष्टं विषयोऽनयोः ।।६।।

अर्थ - रसोई बनाते समय अपने खाने के पिंड से अलग पिंड के विषय में इतना अर्थी के लिए, इतना पुण्य के लिए इस प्रकार संकल्प किया जाए तो वह संकल्प दोष-युक्त हैं । यह संकल्प यावदर्थिक और पुण्यार्थकृत पिंड का विषय हैं, अर्थात् ऐसे संकल्प से युक्त दोनों प्रकार के पिंड यति के लिए त्याज्य हैं ।

स्वोचिते तु यदारम्भे, तथा सङ्कल्पनं क्वचित् ।
न दुष्टं शुभभावत्वात्, तच्छुद्धापरयोगवत् ।।७।।

अर्थ – अपने लिये चावल आदि तैयार होने के बाद 'यह मेरे लिए तैयार किया हैं, इसलिए मुनि के योग्य होने से उसका दान करके अपनी आत्मा को निर्मल करूँगा, इस प्रकार संकल्प करे तो वह संकल्प दुष्ट नहीं हैं। उससे पिंड दोषित नहीं बनता। कारण कि यह संकल्पदायक के शुभ भाव हैं। जैसे मुनि को प्रणाम करने आदि प्रवृत्ति से पिंड दूषित नहीं बनता, वैसे ही इस संकल्प से भी पिंड दूषित नहीं बनता।'

दृष्टोऽसङ्कल्पितस्यापि, लाभ एवमसम्भवः ।
नोक्त इत्याप्ततासिद्धि – र्यतिधर्मोऽतिदुष्करः ॥८॥

अर्थ – असंकल्पित पिंड भी प्राप्त होता हैं। (कारण कि भिक्षुक का अभाव हो, रात्रि आदि में भिक्षा का अवसर न हो, जन्म-मरण का सूतक हो...इत्यादि प्रसंग पर दान देने योग्य न होने पर भी अपने लिये तो भोजन बनाते ही हैं। अर्थात् सद्गृहस्थ स्व-पर उभय के लिए ही रसोई बनाते हैं ऐसा नहीं हैं। गृहस्थ सामान्य रीति से अपने लिये रसोई बनाते हैं और कोई अर्थी आये तो उसको भिक्षा देते हैं। इससे पूर्व में वादी के द्वारा कहा गया था कि असंकल्पित पिंड असंभव हैं और सद्गृहस्थ के घर से भिक्षा नहीं ले सकते, इन दोनों दूषणों का अवकाश ही नहीं हैं) इसलिए शास्त्र के प्रणेता ने असंभवित वस्तु का प्रतिपादन नहीं किया होने से वे आप्त (विश्वसनीय) हैं। इस प्रकार सिद्ध होता हैं।

७. अथ प्रच्छन्नभोजनाष्टकम्

सर्वारम्भनिवृत्तस्य, मुमुक्षोर्भावितात्मनः ।
पुण्यादिपरिहाराय, मतं प्रच्छन्नभोजनम् ।।१।।

अर्थ – सर्व आरंभों से निवृत्त और भावितात्मा यति को पुण्यबंध आदि दोषों से बचने के लिए गुप्त (गृहस्थादि न देखे वैसे) भोजन करना चाहिए, इस प्रकार विद्वान मानते हैं।

भुञ्जानं वीक्ष्य दीनादि-र्याचते क्षुत्प्रपीडितः ।
तस्यानुकम्पया दाने, पुण्यबन्धः प्रकीर्तितः ।।२।।

अर्थ – साधु को भोजन करते हुए देखकर गरीब आदि उसके पास भोजन मांगते हैं, उस समय अनुकंपा-करुणा से उसको भोजन दिया जाए तो पुण्यबंध (शुभ कर्मबंध) होता हैं, ऐसा आगम में कहा गया हैं ।

भवहेतुत्वतश्चाऽयं, नेष्यते मुक्तिवादिनाम् ।
पुण्यापुण्यक्षयान्मुक्ति - रिति शास्त्रव्यवस्थितेः ।।३।।

अर्थ – पुण्यबंध संसार का कारण होने से मुक्ति चाहनेवालों को इष्ट नहीं हैं । पुण्य-पाप दोनों के क्षय से मोक्ष होता हैं । इस प्रकार शास्त्रवचन हैं ।

प्रायो न चानुकम्पावांस्तस्यादत्त्वा कदाचन ।
तथाविधस्वभावात्वाच्छक्नोति सुखमासितुम् ।।४।।
अदानेऽ च दीनादे - रप्रीतिर्जायते ध्रुवम् ।
ततोऽपि शासनद्वेषस्ततः कुगतिसन्ततिः ।।५।।

अर्थ – अरे ! दयालु जीव, गरीब वगैरह को मांगने पर भी नहीं दे ऐसा कैसो हो सकता हैं ! दयालु जीव का स्वभाव ही ऐसा होता हैं कि वह प्रायः कभी भी मांगने वाले गरीब आदि को दिये बिना शांति से नहीं बैठ सकता ।

पुण्यबंध के भय से मन को दृढ़ करके भोजन नहीं दे तो दीन आदि को अवश्य अप्रीति उत्पन्न होगी, इससे शासन पर द्वेष उत्पन्न होगा, परिणाम स्वरूप नरक आदि कुगति की परंपरा का सृजन होगा ।

निमित्तभावतस्तस्य सत्युपाये प्रमादतः ।
शास्त्रार्थबाधनेनेह पापबन्ध उदाहृतः ।।६।।

अर्थ – दीन आदि की अप्रीति इत्यादि दोषों को टालने का गुप्त भोजन उपाय होने पर भी प्रमाद से अगुप्त भोजन करनेवाला मुनि दीनादि की अप्रीति आदि दोषों में निमित्त बनता हैं । इससे शास्त्र के अर्थ का अनर्थ होता हैं । शास्त्र की आज्ञा का लोप होता हैं । दूसरों को अप्रीति आदि न हो ऐसा व्यवहार करना, यह शास्त्राज्ञा हैं । प्रकट भोजन करने से उक्त शास्त्राज्ञा का खंडन होता हैं । इससे मुनि को पापबंध (अशुभकर्मबंध) होता हैं ।

शास्त्रार्थश्च प्रयत्नेन, यथाशक्ति मुमुक्षुणा ।
अन्यव्यापारशून्येन, कर्तव्यः सर्वदैव हि ।।७।।

अर्थ – मुमुक्षु (मोक्ष इच्छुक) को लोकप्रवाह आदि

व्यापार को तिलांजलि देकर जीवन पर्यंत यथाशक्ति आदरपूर्वक शास्त्रार्थ-शास्त्राज्ञा का पालन करना चाहिए ।

एवं ह्युभयथाप्येतद्, दुष्टं प्रकटभोजनम् ।
यस्मान्निदर्शितं शास्त्रे, ततस्त्यागोऽस्य युक्तिमान् ।।८।।

अर्थ - इस प्रकार प्रकट भोजन दीन आदि को देने पर भी दोष लगता हैं और नहीं देने पर भी । इस प्रकार दोनों प्रकार से दोष बताया गया हैं । इससे मुमुक्षु के द्वारा प्रकट भोजन का त्याग करना यही युक्तियुक्त हैं ।

● ● ●

८. अथ प्रत्याख्यानाष्टकम्

द्रव्यतो भावतश्चैव, प्रत्याख्यानं द्विधा मतम् ।
अपेक्षादिकृतं ह्याद्य - मतोऽन्यच्चरमं मतम् ॥१॥

अर्थ - द्रव्य और भाव दो प्रकार के पच्चक्खाण हैं। अपेक्षा आदि से किया गया पच्चक्खाण द्रव्य हैं और अपेक्षा-रहित किया गया प्रत्याख्यान भाव हैं।

अपेक्षा चाविधिश्चैवा - परिणामस्तथैव च ।
प्रत्याख्यानस्य विघ्नास्तु, वीर्याभावस्तथापरः ॥२॥

अर्थ - १. अपेक्षा - आलोक-परलोक के सुख की इच्छा २. अविधिविधि का बिल्कुल अभाव ३. अपरिणाम - प्रत्याख्यान के परिणाम का अभाव (मुझे यह प्रत्याख्यान करना हैं, ऐसी अंतर की श्रद्धा का अभाव) ४. वीर्याभाव - वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम आदि से उत्पन्न हुए जीव परिणाम (वीर्योल्लास) का अभाव। ये चार भाव प्रत्याख्यान के विघ्न हैं, अर्थात् द्रव्य प्रत्याख्यान के कारण हैं। अपेक्षा आदि से किया गया प्रत्याख्यान द्रव्य प्रत्याख्यान हैं।

लब्ध्याद्यपेक्षया ह्येत-दभव्यानामपि क्वचित् ।
श्रूयते न च तत्किञ्चि - दित्यपेक्षाऽत्र निन्दिता ॥३॥

अर्थ - भोजन, यश, पूजा, देवांगना आदि की अपेक्षा से कभी (यथाप्रवृत्तकरण द्वारा ग्रंथि-प्रदेश पर आता हैं तब)

अभव्य भी प्रत्याख्यान करते हैं । किन्तु वह प्रत्याख्यान अकिंचित्-अवस्तु-अपारमार्थिक हैं । इससे जैनशासन में अपेक्षा की निंदा की गयी हैं ।

यथैवाविधिना लोके, न विद्याग्रहणादि यत् ।
विपयर्यफलत्वेन, तथेदमपि भाव्यताम् ।।४।।

अर्थ - जैसे लोक में विद्या-ग्रहण आदि जो कोई अविधि से करे तो फल की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि विपरीत फल (मन की अस्थिरता, मरण आदि) भी प्राप्त होते हैं, वैसे अविधि से किये जाने वाले प्रत्याख्यान के बारे में भी समझना ।

अक्षयोपशमात्त्याग - परिणामे तथाऽसति ।
जिनाज्ञाभक्तिसंवेग - वैकल्पादेतदप्यसत् ।।५।।

अर्थ - प्रत्याख्यान को रोकनेवाले कर्म के क्षयोपशम के अभाव में त्याग के परिणाम न होने पर भी स्वीकार किया गया प्रत्याख्यान द्रव्य प्रत्याख्यान हैं । कारण कि जिनाज्ञा के संबंध में बहुमान तथा संवेग (मोक्षाभिलाषा) का अभाव हैं । अविधि प्रत्याख्यान के समान अपरिणाम प्रत्याख्यान भी असत्-अतात्त्विक हैं ।

उदग्रवीर्यविरहात्, क्लिष्टकर्मोदयेन यत् ।
बाध्यते तदपि द्रव्य-प्रत्याख्यानं प्रकीर्त्तितम् ।।६।।

अर्थ - पूर्व में स्वीकारा गया जो प्रत्याख्यान तीव्र

वीर्यान्तराय कर्म के उदय से प्रबल वीर्योल्लास के अभाव में खंडित होता हैं, वह भी द्रव्य प्रत्याख्यान हैं, इस प्रकार तत्त्वज्ञों ने कहा हैं ।

एतद्विपर्ययाद् भाव - प्रत्याख्यानं जिनोदितम् ।
सम्यक्चारित्ररूपत्वान्नियमान्मुक्तिसाधनम् ॥७॥

अर्थ - द्रव्य प्रत्याख्यान से विपरीत (अपेक्षा आदि से रहित) प्रत्याख्यान भाव प्रत्याख्यान हैं । ऐसा जिनेश्वरों ने कहा हैं । भाव प्रत्याख्यान सम्यक्चारित्र रूप होने से अवश्य साक्षात् अथवा परंपरा से मुक्ति का कारण हैं ।

जिनोक्तमिति सद्भक्त्या, ग्रहणे द्रव्यतोऽप्यदः ।
बाध्यमानं भवेद् भाव-प्रत्याख्यानस्य कारणम् ॥८॥

अर्थ - अपेक्षा आदि से ग्रहण किया हुआ द्रव्य प्रत्याख्यान भी 'यह प्रत्याख्यान जिनेश्वरों ने कहा हैं' इस प्रकार के सुंदर बहुमान से बाधित (अपेक्षा आदि दूर) होने पर भाव प्रत्याख्यान का कारण बनता हैं ।

• • •

९. अथ ज्ञानाष्टकम्

विषयप्रतिभासं चात्मपरिणतिमत्तथा ।
तत्त्वसंवेदनं चैव ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥१॥

महर्षियों ने ज्ञान तीन प्रकार के कहे हैं । १. विषय प्रतिभास २. आत्मपरिणतिमत् और ३. तत्त्वसंवेदन ।

हेयोपादेय आदि के तात्त्विक विवेक के बिना, बालक के समान मात्र विषय का प्रतिभास (ज्ञान) वह विषय-प्रतिभास। हेयोपादेय आदि को तात्त्विक विवेकपूर्वक की प्रवृत्ति-निवृत्ति से रहित ज्ञान आत्मपरिणतिमत् । हेयोपादेय आदि का तात्त्विक विवेकपूर्वक हेय से निवृत्ति और उपादेय में प्रवृत्ति करनेवाला ज्ञान तत्त्वसंवेदन । विषय-प्रतिभास मिथ्यादृष्टि को, आत्मपरिणतिमत् सम्यग्दृष्टि को, तत्त्वसंवेदन विशुद्ध चारित्रवाले साधु को होता हैं । [देशविरति श्रावक को मुख्यतया आत्मपरिणतिमत् तथा गौणता से तत्त्वसंवेदन ज्ञान होता हैं ।]

विषकण्टकरत्नादौ, बालादि-प्रतिभासवत् ।
विषयप्रतिभासं स्यात्, तद्धेयत्वाद्यवेदकम् ॥२॥

अर्थ - बालक अथवा अतिमुग्ध जीव के विष, कंटक, रत्न आदि के ज्ञान के समान हेय, उपादेय और उपेक्षणीय के निश्चय से रहित ज्ञान विषयप्रतिभास ज्ञान हैं ।

निरपेक्षप्रवृत्त्यादि - लिङ्गमेतदुदाहृतम् ।
अज्ञानावरणापायं, महापायनिबन्धनम् ॥३॥

अर्थ - निरपेक्ष प्रवृत्ति आदि विषयप्रतिभास ज्ञान के लिंग हैं । विषय प्रतिभास ज्ञानवाले जीव की प्रवृत्ति या निवृत्ति वगैरह अपेक्षा=आलोक-परलोक के अपाय की शंका से रहित होती हैं । मेरी ऐसी प्रवृत्ति आदि से मुझे आलोक-परलोक में ऐसा फल मिलेगा, ऐसा विचार नहीं होता । अज्ञानावरण का अपाय-क्षयोपशम इस ज्ञान का कारण हैं । अर्थात् मति अज्ञानावरणीय आदि कर्म के क्षयोपशम से विषयप्रतिभास ज्ञान होता हैं । स्वयं तथा स्वयं के संगत में आनेवालों को आलोक-परलोक में महाकष्टों की प्राप्ति होना, यह विषयप्रतिभास ज्ञान का फल हैं ।

पातादिपरतन्त्रस्य, तद्दोषादावसंशयम् ।
अनर्थाद्याप्तियुक्तं, चात्मपरिणतिमन्मतम् ॥४॥

अर्थ - पातादि से परतंत्र (सम्यग्दृष्टि) जीव के पात आदि दोष से जनित दोष आदि के संबंध में संशय-रहित और अनर्थादि की प्राप्ति से युक्त ज्ञान आत्मपरिणतिमत् ज्ञान हैं ।

तथाविधप्रवृत्त्यादि - व्यङ्ग्यं सदनुबन्धि च ।
ज्ञानावरणह्रासोत्थं, प्रायो वैराग्यकारणम् ॥५॥

अर्थ - इस ज्ञान का तथाविध (असंक्लिष्ट) प्रवृत्ति आदि लिंग हैं । आत्मपरिणतिमत् ज्ञान को प्राप्त जीव

अशुभ कार्य रसपूर्वक नहीं करता। तथा कोई अशुभ प्रवृत्ति करनी ही पड़े तो दुःखी दिल से करता हैं। शुभ प्रवृत्ति न कर सके तो अपार वेदना का अनुभव करता हैं।

स्वस्थवृत्तेः प्रशान्तस्य, तद्धेयत्यादिनिश्चयम्।
तत्त्वसंवेदनं सम्यग्, यथाशक्ति फलप्रदम् ॥६॥

अर्थ - स्वस्थ (अनुकूल) प्रवृत्तिवाले तथा प्रशांत जीव के हेयोपादेय आदि का निर्णयवाला जो ज्ञान वह तत्त्वसंवेदन रूप हैं। यह ज्ञान साधक की शक्ति-अनुसार सुंदर प्रकार का फल देता हैं।

न्याय्यादौ शुद्धवृत्त्यादि - गम्यमेतत्प्रकीर्तितम्।
सज्ज्ञानावरणापायं, महोदयनिबन्धनम् ॥७॥

अर्थ - सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्षमार्ग में निरतिचार प्रवृत्ति और मिथ्यादर्शनादि रूप संसारमार्ग से निवृत्ति तत्त्वसंवेदन ज्ञान का लिंग हैं। ज्ञानावरण का अपाय-क्षयोपशम यह ज्ञान का हेतु हैं। इस ज्ञान का (अनंतर फल विरति और परंपरा से) फल मोक्ष हैं।

एतस्मिन् सततं यत्नः, कुग्रहत्यागतो भृशम्।
मार्गश्रद्धादिभावेन, कार्य आगमतत्परैः ॥८॥

अर्थ - आगम में तत्पर जीवों को कदाग्रह का त्यागकर मोक्षमार्ग संबंधी ज्ञान, श्रद्धा और आचरण करने के साथ इस तत्त्वसंवेदन ज्ञान में निरंतर अतिशय आदर करना चाहिए।

१०. अथ वैराग्यष्टकम्

आर्त्तध्यानाख्यमेकं स्यान्मोहगर्भं तथाऽपरम् ।
सज्ज्ञानसङ्गतं चेति, वैराग्यं त्रिविधं स्मृतम् ॥१॥

वैराग्य के तीन भेद हैं । १. आर्त्तध्यान २. मोहगर्भ और ३. सद्ज्ञानसंगत । अन्य शब्दों में १. दुःखगर्भित, २. मोहगर्भित, और ३. ज्ञानगर्भित ।

केवल दुःख के कारण उत्पन्न हुआ वैराग्य दुःख-गर्भित, मोह-अज्ञान दशा में उत्पन्न हुआ वैराग्य मोहगर्भित, और तात्त्विक ज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ वैराग्य ज्ञानगर्भित ।

इष्टेतरवियोगादि-निमित्तं प्रायशो हि यत् ।
यथाशक्त्यपि हेयादावप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥२॥

उद्वेगकृद्विषादाढ्य - मात्मघातादिकारणम् ।
आर्त्तध्यानं ह्यदो मुख्यं, वैराग्यं लोकतो मतम् ॥३॥

अर्थ - जो वैराग्य प्रायः इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग आदि दुःख से उत्पन्न होता हैं, वह दुःखगर्भित । इस वैराग्य से यथाशक्ति भी उपादेय में प्रवृत्ति और हेय से निवृत्ति (वास्तविक) नहीं होती । यह वैराग्य उद्वेग और दीनता कराता हैं । आगे जाकर आत्महत्या का कारण भी बनता हैं । इससे परमार्थ से तो यह वैराग्य नहीं हैं, बल्कि आर्त्तध्यान ही हैं । अबुध लोग इसे वैराग्य कहते हैं, इसलिए

उनकी दृष्टि से यहाँ भी उसकी वैराग्य में गणना की गई हैं।

एको नित्यस्तथाऽबद्धः क्षय्यसन्वेह सर्वथा ।
आत्मेति निश्चयाद् भूयो, भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥४॥

तत्त्यागायोपशान्तस्य, सद्वृत्तस्यापि भावतः ।
वैराग्यं तद्गतं यत्तन्मोहगर्भमुदाहृतम् ॥५॥

अर्थ – बारबार संसार की असारता देखने से संसार के विच्छेद के लिए उपशांत (कषाय और इंद्रिय के निग्रह से युक्त) बने हुए और सद्भाव से स्वमान्य सिद्धांत के अनुसार सुंदर आचरण करनेवाले जीव का भी संसार के ऊपर वैराग्य वह मोहगर्भित वैराग्य है । इस जगत में निश्चय से आत्मा एक ही हैं, नित्य ही हैं, अबद्ध, एकांत से क्षणिक हैं, एकांत से असत् हैं, ऐसे अज्ञान से परिपूर्ण निर्णय के कारण मोहगर्भित कहा जाता हैं ।

भूयांसो नामिनो बद्धा, बाह्येनेच्छादिना ह्यमी ।
आत्मानस्तद्वशात्कष्टं, भवे तिष्ठन्ति दारुणे ॥६॥

एवं विज्ञाय तत्त्याग-विधिस्त्यागश्च सर्वथा ।
वैराग्यमाहुः सज्ज्ञान-सङ्गतं तत्त्वदर्शिनः ॥७॥

अर्थ – जीव अनेक हैं और परिणामी हैं । ये जीव बाह्य इच्छा आदि के कारण कर्म से बंधे हुए हैं । अतः वे भयंकर संसार में दुःखी रहते हैं । इस प्रकार आत्मादि वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानकर, संसार के कारण, इच्छा

आदि के त्याग के लिए उद्यम करना अर्थात् सर्वविरति की प्राप्ति हो, इसके लिए उद्यम करना और इच्छा आदि का सर्वथा त्याग करना अर्थात् सर्वविरति का स्वीकार करना, यह सद्ज्ञान संगत-ज्ञान गर्भित वैराग्य हैं ।

एतत्तत्व परिज्ञानान्नियमेनोपजायते ।
यतोऽतः साधनं सिद्धे-रेतदेवोदितं जिनैः ॥८॥

अर्थ - तत्व के परिज्ञान से आत्मा आदि वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने से ही यह ज्ञानगर्भित वैराग्य होता हैं । इससे यह वैराग्य ही सिद्धि का साधन हैं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा हैं ।

• • •

११. अथ तपोऽष्टकम्

दुःखात्मकं तपः केचिन्मन्यन्ते तन्न युक्तिमत् ।
कर्मोदयस्वरूपत्वाद्, बलीवर्दादिदुःखवत् ॥१॥

सर्व एव च दुःख्येव, तपस्वी सम्प्रसज्यते ।
विशिष्टस्तद्विशेषेण, सुधनेन धनी यथा ॥२॥

महातपस्विनश्चैवं, त्वन्नीत्या नारकादयः ।
शमसौख्यप्रधानत्वाद्, योगिनस्त्वतपस्विनः ॥३॥

युक्त्यागमबहिर्भूत-मतस्त्याज्यमिदं बुधैः ।
अशस्तध्यानजननात्, प्राय आत्माऽपकारकम् ॥४॥

अर्थ - कितने ही (बौद्ध) मानते हैं कि - तप दुःख स्वरूप हैं । तप को मोक्ष का कारण मानना यह युक्तियुक्त नहीं हैं । कारण कि तप दुःख रूप होने से, बैल आदि के दुःख के समान कर्म के उदय स्वरूप हैं । अर्थात् जैसे बैल आदि को दुःख कर्म के उदय से होता हैं, वैसे दुःख रूप तप भी कर्म के उदय से होता हैं । जो कर्म के उदय स्वरूप हो वह मोक्ष का कारण नहीं बनता ।

दुःख रूप तप को मोक्ष का कारण स्वीकारे तो (दुःख को ही तप रूप मानने से) सभी दुःखी जीव तपस्वी कहे जायेंगे । तथा जो ज्यादा दुःखी वह विशिष्ट तपस्वी कहा जायगा । जैसे धनवान अधिक धन से महान धनी कहा जाता हैं ।

इस प्रकार (जो दुःखी वह तपस्वी) ऐसी तुम्हारी नीति से नारकी आदि महातपस्वी कहे जायेंगे । योगी समता के सुख में मग्न होने से तपस्वी नहीं कहे जायेंगे ।

तप, युक्ति और आगम से अयुक्त हैं । तथा तप प्रायः अशुभ ध्यान उत्पन्न करने वाला होने से आत्मा का अनर्थ करनेवाला हैं, इससे विद्वानों को तप का त्याग करना चाहिए ।

मनइन्द्रिययोगाना-महानिश्चोदिता जिनैः ।
यतोऽत्र तत् कथं त्वस्य, युक्ता स्याद् दुःखरूपता ॥५॥

अर्थ - मन, इंद्रिय और (संयम के) योगों को हानि न पहुँचे, इस प्रकार तप करना चाहिए ऐसा जिनेश्वरों ने कहा हैं। इससे तप दुःखरूप हैं, यह किस प्रकार योग्य कहा जा सकता हैं ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता ।

चापि चानशनादिभ्यः, कायपीडा मनाक् क्वचित् ।
व्याधिक्रियासमा सापि, नेष्टसिद्ध्याऽत्र बाधनी ॥६॥

अर्थ - कभी अनशन आदि से होनीवाली सामान्य कायपीड़ा बाधक नहीं होती, अर्थात् शरीर में दुःख का अनुभव होता हैं किन्तु मन में जरा भी दुःख का अनुभव नहीं होता । कारण कि पीड़ा से इष्ट कार्य की सिद्धि होती हैं । अनशन आदि तप से होनेवाली कायपीड़ा व्याधि की चिकित्सा के समान हैं । रोग की चिकित्सा करने पर देह

को पीड़ा होने पर भी मन में दुःख नहीं होता, बल्कि बहुत बार आनंद होता हैं । उसी प्रकार तप से भाव आरोग्य की प्राप्ति होने से देहपीड़ा बाधक नहीं बनती, बल्कि आनंददायक होती हैं ।

दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ, कायपीडा ह्यदुःखदा ।
रत्नादिवणिगादीनां, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥७॥

अर्थ - क्या लोक में हम नहीं देखते कि, जौहरी आदि को रत्न का व्यापार वगैरह इष्टकार्य की सिद्धि होते ही व्यापार आदि में उत्पन्न श्रम, तृषा आदि से हुई देहपीड़ा मानसिक बाधा का जरा भी कारण नहीं बनती । वैसे ही तप के विषय में भी जानना ।

विशिष्टज्ञानसंवेग - शमसारमतस्तपः ।
क्षायोपशमिकं ज्ञेय - मव्याबाधसुखात्मकम् ॥८॥

अर्थ - तप, विशिष्ट प्रकार के (-सम्यग्दर्शन से युक्त) ज्ञान, संवेग और शम इन तीनों से युक्त होने से क्षायोपशमिक-कर्म के क्षयोपशम रूप (न कि कर्म के उदयरूप) और अव्याबाध सुख रूप (न कि दुःख रूप) जानना चाहिए ।

• • •

१२. अथ वादाष्टकम्

शुष्कवादो विवादश्च, धर्मवादस्तथापरः ।
इत्येष त्रिविधो वादः, कीर्तितः परमर्षिभिः ॥१॥

अर्थ – महर्षिओं ने वाद के तीन प्रकार कहे हैं । १. शुष्कवाद २. विवाद ३. और धर्मवाद ।

अत्यन्तमानिना सार्धं, क्रूरचित्तेन च दृढम् ।
धर्मद्विष्टेन मूढेन, शुष्कवादस्तपस्विनः ॥२॥

अर्थ – अतिशय गर्विष्ठ, अतिक्रूर, जैन धर्म–द्वेषी और मूढ इन चार प्रकार के वादियों में से किसी भी प्रकार के वादी के साथ तपस्वीसाधु का वाद शुष्कवाद–अनर्थवाद हैं ।

विजयेऽस्यातिपातादि, लाघवं तत्पराजयात् ।
धर्मस्येति द्विधाप्येष, तत्त्वतोऽनर्थवर्धनः ॥३॥

अर्थ – अतिगर्विष्ठ आदि प्रतिवादी के साथ वाद करने में साधु की विजय हो तो प्रतिवादी का मरण, चित्तभ्रम, वैरानुबंध, अशुभ कर्मबंध, संसार–परिभ्रमण आदि अनर्थ होते हैं अथवा साधु के साथ वैरानुबंध होने से प्रतिवादी साधु के प्राण–हरण इत्यादि अनर्थ होते हैं । यदि प्रतिवादी से साधु की पराजय हो जाये तो जिनप्रवचन की लघुता होती हैं । इस प्रकार शुष्कवाद उभय रीति (जय अथवा पराजय) से परमार्थ से अनर्थ की वृद्धि करता हैं ।

लब्धिख्यात्यार्थिना तु स्याद्, दुःस्थितेनाऽमहात्मना ।
छलजातिप्रधानो यः, स विवाद इति स्मृतः ॥४॥

अर्थ – धन आदि का और ख्याति का अर्थी, दुःस्थित (दरिद्र अथवा मानसिक दुःस्थितिवाला) और अनुदार चित्तवाला जो प्रतिवादी हैं, उसके साथ छल और जाति के द्वारा जो वाद वह विवाद हैं ।

विजयो ह्यत्र सन्नीत्या, दुर्लभस्तत्त्ववादिनः ।
तद्भावेऽप्यन्तरायादि – दोषोऽदृष्टविघातकम् ॥५॥

अर्थ – विवाद में तत्त्ववादी को उत्तम नीतिपूर्वक विजय दुर्लभ हैं । अत्यंत अप्रमत्त बनकर प्रतिवादी के छल आदि को दूर करने से विजय मिले तो भी अंतराय आदि दोष उत्पन्न होते हैं । ये दोष परलोक को बिगाड़ते हैं ।

परलोकप्रधानेन, मध्यस्थेन तु धीमता ।
स्वशास्त्रज्ञाततत्वेन, धर्मवाद उदाहृतः ॥६॥

अर्थ – परलोक को मुख्य रखनेवाला, स्व-परदर्शन में मध्यस्थ, बुद्धिमान और स्वशास्त्र के परमार्थ को जाननेवाला प्रतिवादी हो तो उसके साथ जो वाद किया जाय वह धर्मवाद हैं ।

विजयेऽस्य फलं धर्म – प्रतिपत्त्याद्यनिन्दितम् ।
आत्मनो मोहनाशश्च, नियमात् तत्पराजयात् ॥७॥

अर्थ – धर्मवाद में साधु को विजय मिले तो प्रतिवादी

के द्वारा जैनधर्म का स्वीकार करना आदि निरवद्य-निर्दोष फल मिलते हैं । प्रतिवादी से साधु का पराजय हो तो अवश्य अपनी (साधु की) मोह-अज्ञानता का नाश होता हैं ।

देशाद्यपेक्षया चेह, विज्ञाय गुरुलाघवम् ।
तीर्थकृज्ज्ञातमालोच्य, वादः कार्यो विपश्चिता ॥८॥

अर्थ - यहाँ विद्वान देश, काल आदि अनुसार लाभ-हानि को जानकर तीर्थंकर भगवान महावीर के दृष्टांत का विचार करते हुए वाद करे ।

● ● ●

१३. अथ धर्मवादाष्टकम्

विषयो धर्मवादस्य, तत्ततन्त्रव्यपेक्षया ।
प्रस्तुतार्थोपयोग्येव, धर्मसाधन-लक्षणः ॥१॥

अर्थ - प्रतिवादी के द्वारा स्वीकार किये हुए उन-उन दर्शनों की अपेक्षा से मोक्ष पुरुषार्थ में उपयोगी धर्म-साधन ही धर्मवाद का विषय हैं, अर्थात् धर्म साधनों का ही वाद करना चाहिए ।

पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥२॥

अर्थ - अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य, परिग्रह और त्याग ये पाँच जैन, सांख्य, बौद्ध आदि प्रत्येक धार्मिकों के पवित्र धर्मसाधन (धर्म के हेतु) हैं ।

क्व खल्वेतानि युज्यन्ते, मुख्यवृत्त्या क्व वा न हि ।
तन्त्रे तत्तन्त्रनीत्यैव, विचार्यं तत्त्वतो ह्यदः ॥३॥

अर्थ - धर्मार्थी के द्वारा ये पाँच धर्मसाधन परमार्थ से किसके दर्शन में पाए जाते हैं और किसके दर्शन में नहीं पाए जाते हैं, यही विचार तात्त्विक रीति से करना चाहिए । यह विचार बौद्ध आदि जिस दर्शन के संबंध में करना हो उसी दर्शन की नीति-आत्मा आदि पदार्थ नित्य हैं अथवा अनित्य इत्यादि व्यवस्था (सिद्धांत) के अनुसार ही करना चाहिए ।

धर्मार्थिभिः प्रमाणादे-र्लक्षणं न तु युक्तिमत् ।
प्रयोजनाद्यभावेन, तथा चाह महामतिः ॥४॥

अर्थ – प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के और आत्मादि प्रमेय के लक्षण की चर्चा युक्तियुक्त नहीं हैं । कारण कि इसका कोई प्रयोजन नहीं हैं । तथा अमुक वस्तु का अमुक ही लक्षण हैं ऐसा निर्णय करने के लिए उपाय भी नहीं हैं। महान बुद्धिशाली श्री सिद्धसेन सूरि भी ऐसा ही कहते हैं ।

प्रसिद्धानि प्रमाणानि, व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ, ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥५॥

अर्थ – प्रत्यक्ष आदि प्रमाण लोक में स्वतः (उपदेश के बिना) प्रसिद्ध हैं । और प्रमाण से किया हुआ व्यवहार भी प्रसिद्ध हैं । इससे प्रमाण का लक्षण जानने में कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता ।

प्रमाणेन विनिश्चित्य, तदुच्यते न वा ननु ।
अलक्षितात् कथं युक्ता, न्यायतोऽस्य विनिश्चितेः ॥६॥

सत्यां चास्यां तदुक्त्या किं, तद्वद् विषयनिश्चितेः ।
तत एवाऽविनिश्चित्य, तस्योक्तिर्ध्यान्ध्यमेव हि ॥७॥

अर्थ – अमुक प्रमाण का अमुक लक्षण हैं इस प्रकार प्रमाण को लक्षण (जिस प्रमाण का लक्षण कहना हैं, उस प्रमाण से अन्य कोई) प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से निर्णय करके कहा जाता हैं अथवा निर्णय किये बिना ?

यदि अन्य प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से निर्णय कर लक्षण कहा जाये तो प्रश्न होता हैं कि - जिस प्रमाण से प्रस्तुत प्रमाण के लक्षण का निर्णय किया हैं वह प्रमाण उसके लक्षण से निर्णीत हैं या अनिर्णीत ?

तस्माद् यथोदित्तं वस्तु, विचार्यं रागवर्जितैः ।
धर्मार्थिभिः प्रयत्नेन, तत इष्टार्थसिद्धितः ॥८॥

अर्थ - प्रमाण आदि के लक्षण की चर्चा निष्प्रयोजन होने से, स्वदर्शन के पक्षपात से (और परदर्शन के द्वेष से) रहित धर्मार्थी के द्वारा पूर्व में (तीसरे श्लोक में) कहे अनुसार अहिंसा आदि धर्मसाधनों की आदरपूर्वक चर्चा करनी चाहिए । कारण कि इससे इष्ट अर्थ की (धर्म की और परंपरा से मोक्ष की) प्राप्ति होती है ।

● ● ●

१४. अथ एकान्तनित्यपक्षखण्डनाष्टकम्

तत्रात्मा नित्य एवेति, येषामेकान्तदर्शनम् ।
हिंसादयः कथं तेषां, युज्यन्ते मुख्यवृत्तितः ॥१॥

अर्थ – जिनका 'आत्मा नित्य ही हैं' इस प्रकार एकांतदर्शन हैं, उनकी दृष्टि से हिंसा आदि परमार्थ से कैसे माने जाएँगे ? नहीं माने जाएँगे ।

निष्क्रियोऽसौ ततो हन्ति, हन्यते वा न जातुचित् ।
कञ्चित्केनचिदित्येवं, न हिंसाऽस्योपपद्यते ॥२॥

अर्थ – आत्मा एकांत से नित्य होने से निष्क्रिय – सर्व प्रकार की क्रियाओं से रहित हैं । निष्क्रिय होने से वह कभी भी अन्य किसी का घात नहीं करती । तथा (सभी आत्माएँ निष्क्रिय होने से या स्वयं नित्य होने से) अन्य किसी से कभी भी उसका घात नहीं होता । इस प्रकार सर्वथा नित्य आत्मा की हिंसा नहीं मानी जाती ।

अभावेसर्वथैतस्या, अहिंसापि न तत्त्वतः ।
सत्यादीन्यपि सर्वाणि, नाहिंसासाधनत्वतः ॥३॥

अर्थ – हिंसा का अभाव होने से अहिंसा भी परमार्थ से नहीं मानी जाती । अहिंसा के अभाव में सत्य आदि भी नहीं माने जाते कारण कि सत्य आदि अहिंसा के साधन हैं – अहिंसा के पालन के लिए हैं ।

ततः सन्नीतितोऽभावा-दमीषामसदेव हि ।
सर्वं यमाद्यनुष्ठानं, मोहसङ्गतमेव वा ॥४॥

अर्थ - इस प्रकार युक्तिपूर्वक अहिंसादि का अभाव होने से यम आदि सभी अनुष्ठान असत्-निरर्थक सिद्ध होते हैं। यम आदि अनुष्ठानों को उपचार से सद्-सार्थक मानने में मूढ़ता ही हैं।

शरीरेणापि सम्बन्धो, नातः एवास्य सङ्गतः ।
तथा सर्वगतत्वाच्च संसारश्चाप्यकल्पितः ॥५॥

अर्थ - नित्य आत्मा निष्क्रिय होने के कारण उसका शरीर के साथ संबंध भी स्थापित नहीं होता (संबंध एक प्रकार की क्रिया हैं। निष्क्रिय आत्मा में क्रिया नहीं होती) नित्य आत्मा का अकल्पित-तात्त्विक संसार भी योग्य नहीं (संसार अर्थात् नरक आदि गति में परिभ्रमण। नित्य आत्मा निष्क्रिय होने से उसमें परिभ्रमण की क्रिया होगी ही नहीं)। सर्वगत आत्मा का भी तात्त्विक संसार योग्य नहीं। (सर्वगत आत्मा सर्वत्र विद्यमान होने से एक स्थल से दूसरे स्थल जाने का अवसर ही नहीं है।)

ततश्चोर्ध्वगतिर्धर्मा-दधोगतिरधर्मतः ।
ज्ञानान्मोक्षश्च वचनं, सर्वमेवौपचारिकम् ॥६॥

अर्थ - संसार का अभाव होते ही धर्म से ऊर्ध्वगति-स्वर्गादि, अधर्म से अधोगति-नरकादि और ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं, इत्यादि शास्त्रोक्त सभी बातें औपचारिक-काल्पनिक सिद्ध होंगी ।

भोगाधिष्ठानविषयेऽप्यस्मिन् दोषोऽयमेव तु ।
तद्भेदादेव भोगोऽपि, निष्क्रियस्य कुतो भवेत् ॥७॥

अर्थ - भोगाधिष्ठान - शरीर को आश्रय कर जीव का, ऊर्ध्वगति आदि संसार हैं । ऐसा मान भी लें तो भी ये ही (पूर्व-कथीत) दोष विद्यमान हैं अर्थात् ऊर्ध्वगति आदि संसार काल्पनिक ही सिद्ध होता हैं। (आत्मा निष्क्रिय होने से इसका शरीर के साथ में संबंध नहीं होगा । यदि शरीर के साथ संबंध ही स्थापित नहीं होता तो शरीर को आश्रयकर जीव का वास्तविक संबंध भी कैसे स्थापित होगा ?) दूसरा दूषण - विषयभोग भी एक प्रकार की क्रिया ही हैं। इससे निष्क्रिय आत्मा विषयभोग भी कैसे करेगी ? इस प्रकार आत्मा को नित्य मानने में शरीर-संबंध और भोग स्थापित नहीं होंगे ।

इष्यते चेत्क्रियाप्यस्य, सर्वमेवोपपद्यते ।
मुख्यवृत्त्यानघं किन्तु, परसिद्धान्त-संश्रयः ॥८॥

अर्थ - यदि आत्मा की क्रिया स्वीकार की जाये, अर्थात् आत्मा को सक्रिय माना जाए तो सभी हिंसा, अहिंसा, सत्य आदि, यमादि, अनुष्ठान, शरीरसंबंध, संसार, मोक्ष, भोग आदि परमार्थ से निर्दोषता से स्थापित होते हैं। किन्तु उसमें एक कठिनाई हैं ! उसमें उनको पर सिद्धांत का - जैनों के द्वारा स्वीकृत परिणामवाद का आश्रय लेना पड़ता हैं ।

१५. अथ क्षणिकवादनिराकरणाष्टकम्

क्षणिकज्ञानसन्तान - रूपेऽप्यात्मन्यसंशयम् ।
हिंसादयो न तत्त्वेन, स्वसिद्धान्तविरोधतः ॥१॥

अर्थ - प्रतिक्षण नाश पानेवाली आत्मा में भी निःसंदेह हिंसादि स्थापित नहीं हो सकते । कारण कि अपने ही आगम का विरोध होता हैं ।

नाशहेतोरयोगेन, क्षणिकत्वस्य संस्थितिः ।
नाशस्य चान्यतोऽभावे, भवेद्धिंसाप्यहेतुका ॥२॥

अर्थ - नाश के कारण नहीं स्थापित होने से क्षणिकत्व की - प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक क्षण स्वयमेव नाश होता हैं, ऐसे सिद्धांत की स्थापना की हैं। इससे किसी भी वस्तु का (स्वयं के स्वभाव के सिवा) अन्य किसी भी कारण से नाश न होने से अर्थात् सर्व वस्तुओं का नाश बिना किसी कारण के होने से, हिंसा (जीव का नाश) भी निर्हेतुक हो जायगी।

ततश्चास्याः सदा सत्ता, कदाचिन्नैव वा भवेत् ।
कदाचित्कं हि भवनं, कारणोपनिबन्धनम् ॥३॥

अर्थ - हिंसा निर्हेतुक (बिना कारण) होने से सदा रहनी चाहिए अथवा कभी भी नहीं होनी चाहिए। किसी भी वस्तु की कभी भी उत्पत्ति किसी कारण से ही होती हैं । अर्थात् जिसकी उत्पत्ति में कोई कारण नहीं हैं वह वस्तु कभी भी उत्पन्न नहीं होने से कभी भी न होगी अथवा सदा

(अनादि काल से) होगी ।

न च सन्तानभेदस्य, जनको हिंसको भवेत् ।
सांवृतत्वान्न जन्यत्वं, यस्मादस्योपपद्यते ॥४॥

अर्थ - संतानभेद का - मनुष्यादि क्षण प्रवाह विशेष का जनक हिंसक नहीं बनता । कारण कि संतान-क्षणप्रवाह सांवृत-काल्पनिक होने से जन्य ही नहीं हैं । जो वस्तु जन्य न हो-उत्पन्न न होती हो उसका जनक-उत्पन्न करनेवाला कहाँ से होगा ! अब जो संतान का जनक ही नहीं, तो संतान का जनक हिंसक बनता हैं, यह बात ही कहाँ रही !

न च क्षणविशेषस्य, तेनैव व्यभिचारतः ।
तथा च सोऽप्युपादान - भावेन जनको मतः ॥५॥

अर्थ - क्षणविशेष का - मनुष्यादि क्षण का जनक हिंसक हैं ऐसा भी नहीं माना जा सकता । कारण कि हिरण का अन्त्य क्षण मनुष्य के क्षण का जनक होने पर भी हिंसक नहीं हैं । जैसे मनुष्यक्षण का जनक शिकारी हैं, वैसे ही हिरण का अन्त्य लक्षण भी उपादानभाव से उपादान कारण रूप में (परिणामी कारण रूप में) जनक हैं । किन्तु वह हिंसक नहीं हैं । [जनक को हिंसक मानने पर उपादान क्षण को भी हिंसक रूप में मानना पड़ता हैं ।]

तस्यापि हिंसकत्वेन, न कश्चित्स्यादहिंसकः ।
जनकत्वाविशेषेण, नैवं तद्विरतिः क्वचित् ॥६॥

उपादान क्षण को भी हिंसक मानें तो कोई भी अहिंसक

नहीं रहता। कारण कि प्रत्येक पदार्थ अनंतर क्षण का उपादान क्षण बनने से जनक रूप में समान हैं। इस प्रकार अमुक जनक ही हिंसक हैं ऐसे विशेष के बिना कोई भी जनक हिंसक हैं, इस प्रकार जनक सामान्य को हिंसक रूप में स्वीकारने से, कभी भी, किसी भी व्यक्ति की, कहीं पर भी, किसी भी अवस्था में हिंसा की निवृत्ति नहीं होगी !

उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्याः, कृतो यत्नेन चिन्त्यताम् ।
विषयोऽस्य यमासद्य, हन्तैष सफलो भवेत् ॥७॥

अर्थ - शास्त्र में अहिंसा का उल्लेख किया गया हैं। शास्त्र में किये गये अहिंसा संबंधी उल्लेख के विषय को आदरपूर्वक विचार करें। जिससे शास्त्र में किया गया अहिंसा का उल्लेख सफल-सार्थक बने। यदि अहिंसा का अभाव ही हो तो शास्त्र में उसका उल्लेख निरर्थक बनेगा।

अभावेऽस्या न युज्यन्ते, सत्यादीन्यपि तत्त्वतः ।
अस्याः संरक्षणार्थं तु, यदेतानि मुनिर्जगौ ॥८॥

अर्थ - अहिंसा के अभाव में सत्यादि धर्म-साधन भी परमार्थ से नहीं माने जाते। कारण कि मुनि-जिनेश्वरों ने अहिंसा की रक्षा के लिए ही सत्य आदि धर्म-साधन कहे हैं। (यदि अहिंसा ही न होगी तो फिर इसके रक्षण के साधनों की भी क्या आवश्यकता ! क्या धान्य से रहित खेत में वाड़ बनाने की जरूरत हैं ? कभी नहीं !)

१६. अथ नित्यानित्यपक्षमण्डनाष्टकम्

नित्यानित्ये तथा देहाद्, भिन्नाभिन्ने च तत्त्वतः ।
घटन्त आत्मनि न्यायाद्धिंसादीन्यविरोधतः ॥१॥

अर्थ – आत्मा को नित्यानित्य तथा देह से भिन्नाभिन्न मानें तो किसी भी प्रकार के विरोध (दोष) के बिना न्याय-पूर्वक हिंसादि परमार्थ से माने जाते हैं ।

पीडाकर्तृत्वयोगेन, देहव्यापत्त्यपेक्षया ।
तथा हन्मीति सङ्क्लेशाद्धिंसैषा सनिबन्धना ॥२॥

अर्थ – पीडा उत्पन्न करने से, शरीर का नाश करने से और 'मैं जीव को मार रहा हूँ' इस प्रकार की कलुषता से यह हिंसा सकारण हैं। (एकांतवाद में पूर्व में कहे अनुसार पीड़ा की उत्पत्ति आदि लागू न होने से हिंसा कारण-रहित हैं।

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनियोगतः ।
हिंसकस्य भवेदेषा, दुष्टा दुष्टानुबन्धतः ॥३॥

अर्थ – हिंस्य जीव के कर्म के उदय से हिंसा होती हुई होने पर भी मारनेवाला उसमें निमित्त बनने से उसको हिंसा लगती हैं। चित्त की कलुषतता के कारण यह हिंसा दुष्ट हैं। [इससे निमित्त बनने मात्र से हिंसा नहीं लगती, किन्तु चित्त का संक्लेशपूर्वक हिंसा में निमित्त बनने से हिंसा लगती हैं। इससे ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए साधु के पैर के नीचे

अचानक संपातिम जीव आकर मर जाये तो साधु को हिंसा नहीं लगती ।]

ततः सदुपदेशादेः क्लिष्टकर्मवियोगतः ।
शुभभावानुबन्धेन, हन्ताऽस्या विरतिर्भवेत् ॥४॥

अर्थ - परिणामी आत्मा में हिंसा की उत्पत्ति से, सदुपदेश आदि द्वारा अशुभ कर्मों के वियोग से (क्षयोपशम होने से) तथा शुभ अध्यवसाय की परंपरा होने से हिंसा से निवृत्ति होती हैं ।

अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादि पालनम् ॥५॥

अर्थ - यह पारमार्थिक अहिंसा स्वर्ग और मोक्ष का कारण हैं । सत्यादि का पालन भी अहिंसा के रक्षण के लिए जरूरी हैं ।

स्मरण-प्रत्यभिज्ञान - देहसंस्पर्शवेदनात् ।
अस्य नित्यादिसिद्धिश्च, तथा लोकप्रसिद्धितः ॥६॥

अर्थ - स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, देह संस्पर्शवेदन और लोकप्रसिद्धि से आत्मा के नित्यत्वानित्यत्व धर्म की तथा देह से भिन्नत्वाभिन्नत्व धर्म की सिद्धि होती हैं ।

देहमात्रे च सत्यस्मिन्, स्यात्सङ्कोचादिधर्मिणि ।
धर्मादेरूर्ध्वगत्यादि, यथार्थं सर्वमेव तु ॥७॥

अर्थ - आत्मा को सर्वगत मानने से पूर्व में (अष्टक

१४ श्लोक ५-६ में) धर्म से ऊर्ध्वगति होती हैं इत्यादि शास्त्रवचन औपचारिक सिद्ध हो रहा था, यह सब आत्मा संकोच-विकासशील और देहप्रमाण हो तो यथार्थ - निरुपचरित सिद्ध होता हैं ।

विचार्यमेतत् सद्बुद्ध्या, मध्यस्थेनान्तरात्मना ।
प्रतिपत्तव्यमेवेति, न खल्वन्यः सतां नयः ॥८॥

अर्थ - यहाँ अहिंसा आदि का जो विचार किया गया हैं, उसका अंतरात्मा के द्वारा मध्यस्थ बनकर सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना चाहिए और उसका स्वीकार करना चाहिए। विचार करने पर जो वस्तु सत्य लगे उसका स्वीकार करना, यह सज्जन पुरुषों की नीति हैं ।

● ● ●

१७. अथ मांसभक्षणदूषणाष्टकम्

भक्षणीयं सता मांसं, प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना ।
ओदनादिवदित्येवं, कश्चिदाहऽतितार्किकः ॥१॥

अर्थ – चावल के समान प्राणी का अंग होने से सज्जन पुरुषों के द्वारा मांस का भक्षण करना चाहिए, ऐसा अतितार्किक सौगत – बौद्धदर्शनानुयायी कहते हैं ।

भक्ष्याभक्ष्यव्यवस्थेह, शास्त्रलोकनिबन्धना ।
सर्वैव भावतो यस्मात्, तस्मादेतदसाम्प्रतम् ॥२॥

अर्थ – क्या खाने लायक हैं और क्या खाने लायक नहीं हैं इत्यादि संपूर्ण व्यवस्था परमार्थ से आप्तोक्त–शास्त्र और शिष्ट लोक के आधार पर हैं । इससे मांस प्राणी का अंग हैं इसलिए भक्ष्य हैं, यह कहना अयुक्त हैं ।

तत्र प्राण्यङ्गमप्येकं, भक्ष्यमन्यत्तु नो तथा ।
सिद्धं गवादिसत्क्षीर – रुधिरादौ तथेक्षणात् ॥३॥

अर्थ – गाय आदि प्राणी का अंग होने पर भी एक वस्तु – दूध आदि भक्ष्य हैं और दूसरी वस्तु – खून आदि अभक्ष्य हैं, इस प्रकार शास्त्र और लोक में देखा जाता हैं ।

प्राण्यङ्गत्वेन न च नोऽभक्षणीयमिदं गतम् ।
किन्त्वन्यजीवभावेन, तथा शास्त्रप्रसिद्धितः ॥४॥

अर्थ – हम (जैन) मांस को केवल प्राणी का अंग हैं

इसलिए ही अभक्ष्य नहीं मानते, बल्कि उसमें अन्य जीवों की उत्पत्ति होने से भी उसको अभक्ष्य मानते हैं। मांस में अन्य जीवों की उत्पत्ति आप्तोक्तशास्त्र में प्रसिद्ध हैं।

भिक्षुमांसनिषेधोऽपि, न चैवं युज्यते क्वचित्।
अस्थ्याद्यपि च भक्ष्यं स्यात्, प्राण्यङ्गत्वाऽविशेषतः ॥५॥

अर्थ - प्राणी का अंग होने से मांस भक्ष्य हैं, ऐसा स्वीकार करें तो भिक्षु (बौद्ध विशेष) के मांस का भी निषेध नहीं करना चाहिए। तथा हड्डी, चमड़ी आदि भी प्राणी के अंग होने से भक्ष्य होने चाहिए।

एतावन्मात्रसाम्येन, प्रवृत्तियदि चेष्यते ।
जायायां स्वजनन्यां च, स्त्रीत्वात् तुल्यैव साऽस्तु ते ॥६॥

अर्थ - यदि तुम मात्र प्राणी के अंग की समानता से मांसभक्षण आदि की प्रवृत्ति मानते हो तो स्त्री रूप में समान होने से स्वमाता और स्वपत्नी के संबंध में तुम्हारी समान प्रवृत्ति होनी चाहिए। (प्राणी के अंग रूप में समान होने से चावल-मांस में भक्षण की समान प्रवृत्ति होती हैं, उसी प्रकार माता-पत्नी के संबंध में भी)।

तस्माच्छास्त्रं च लोकं च, समाश्रित्य वदेद् बुधः ।
सर्वत्रैव बुधत्वं स्या-दन्यथोन्मत्ततुल्यता ॥७॥

अर्थ - इससे विद्वानों को प्रत्येक मुद्दे पर आप्तोक्त-शास्त्र और शिष्ट लोगों को दृष्टि के समक्ष रखकर बोलना

चाहिए। ऐसा बोलने में ही विद्वत्ता हैं। शास्त्र और लोक से निरपेक्ष बोलना पागलपन हैं।

शास्त्रे चाप्तेन वोऽप्येतन्निषिद्धं यत्नतो ननु।
लङ्कावतारसूत्रादौ, ततोऽनेन न किञ्चन ॥८॥

अर्थ - लंकावतार आदि तुम्हारे शास्त्र में भी बुद्ध ने मांसभक्षण का आदरपूर्वक निषेध किया हैं। इससे तुम्हारे द्वारा किया हुआ मांसभक्षण का समर्थन निष्प्रयोजन हैं।

● ● ●

१८. अथान्यशास्त्रोक्तमांसभक्षणदूषणाष्टकम्

अन्योऽविमृश्य शब्दार्थं, न्याय्यं स्वयमुदीरितम् ।
पूर्वापरविरुद्धार्थ - मेवमाहात्र वस्तुनि ॥१॥

अर्थ - पूर्वापर विरुद्ध **अर्थ** - १. एक तरफ 'मां स भक्षयिता...' (गा. ३) जिसके मांस का मैं भक्षण करता हूं, वह परलोक में मेरा भक्षण करेगा, इस प्रकार मांस शब्द का अर्थ करके मांस-भक्षण में दोष बताते हैं जबकि दूसरी तरफ इससे बिलकुल विपरीत 'न मांसभक्षणे दोषः' (गा. २) मांसभक्षण में दोष नहीं हैं, ऐसा कहते हैं । (गा. २) इसमें प्रथम कहते हैं कि 'मांसभक्षण में दोष नहीं' तथा इसी श्लोक के अंत में कहते हैं कि 'निवृत्तिस्तु महाफला' मांसभक्षण से निवृत्ति महा फलवाली हैं, ऐसा कहते हैं ।

न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥२॥

अर्थ - मांसभक्षण में दोष नहीं हैं तथा मद्यपान में और मैथुन सेवन में भी दोष नहीं हैं । कारण कि प्राणियों का मांसभक्षणादि स्वभाव हैं । किन्तु मांसभक्षण से निवृत्ति, महाफलवाली हैं ।

मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ॥३॥

अर्थ – यहां मैं जिसके मांस का भक्षण करता हूं। वह परलोक में मेरा भक्षण करेगा। यह मांस शब्द का सत्य अर्थ हैं। ऐसा बुद्धिमान कहते हैं।

इत्थं जन्मैव दोषोऽत्र, न शास्त्राद् बाह्यभक्षणम्।
प्रतीत्यैष निषेधश्च, न्याय्यो वाक्यान्तराद् गतेः ॥४॥

अर्थ – (इत्थं) जन्मैव दोषोऽत्र – इस प्रकार जिसके मांस का भक्षण किया हो उसका भक्ष्य रूप में जन्म हो, यही मांसभक्षण में दोष हैं।

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं, ब्राह्मणानां च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु, प्राणानामेव वाऽत्यये ॥५॥

अर्थ – १. वैदिक मंत्रों से प्रोक्षण नामक संस्कार से युक्त मांस का भक्षण करना चाहिए। २. ब्राह्मणों की इच्छा से (एकबार) मांस खाना चाहिए। ३. श्राद्ध तथा मधुपर्क में विधिपूर्वक जुड़े मनुष्य को अवश्य मांसभक्षण करना चाहिए। ४. मांसभक्षण बिना प्राणों का रक्षण न हो सके, ऐसी परिस्थिति में भी मांसभक्षण करना चाहिए।

अत्रैवासावदोषश्चेन्निवृत्तिर्नास्य सज्यते।
अन्यदाऽभक्षणादत्राऽभक्षणे दोषकीर्तनात् ॥६॥

अर्थ – (अत्रैवासावदोषश्चेद्) – शास्त्र-विहित मांसभक्षण में ही दोष नहीं हैं (शास्त्रबाह्य मांसभक्षण में ही दोष हैं) ऐसा तुम मानते हो तो एक आपत्ति आती हैं।

यथाविधि नियुक्तस्तु, यो मांसं नात्ति वै द्विजः ।
स प्रेत्य पशुतां याति, सम्भवानेकविंशतिम् ॥७॥

अर्थ - श्राद्ध और मधुपर्क में विधिपूर्वक जुड़ा हुआ जो ब्राह्मण मांस का भक्षण नहीं करता, वह भवांतर में इक्कीस बार पशु रूप में उत्पन्न होता हैं ।

पारिव्राज्यं निवृत्तिश्चेद्, यस्तदप्रतिपत्तितः ।
फलाभावः स एवास्य, दोषो निर्दोषतैव न ॥८॥

अर्थ - अब यदि प्रव्रज्या की अपेक्षा से मांसभक्षण से निवृत्ति हैं, अर्थात् जो प्रव्रज्या स्वीकार करे उसकी, वेदविहित मांसभक्षण से भी निवृत्ति होती हैं । अब प्रव्रजित की अपेक्षा से ''निवृत्तिस्तु महाफला'' यह वचन संगत हैं । गृहस्थावस्था में वेदविहिति मांसभक्षण की प्रवृत्ति थी । प्रव्रज्या लेने के बाद मांसभक्षण से निवृत्ति कराने के लिए ''निवृत्तिस्तु महाफला'' यह वचन संगत हैं ।

• • •

१९. अथ मद्यपानदूषणाष्टकम्

मद्यं पुनः प्रमादाङ्गं, तथा सच्चित्तनाशनम् ।
सन्धानदोषवत्तत्र, न दोष इति साहसम् ॥१॥

अर्थ - मद्य प्रमाद का कारण हैं । शुभ चित्त का नाशक हैं । मद्य में संधान के समान जीवसंसक्ति-जीवोत्पत्ति वगैरह अनेक दोष हैं । (ऐसे मद्यपान में दोष नहीं हैं) ऐसा कहना यह धृष्टता हैं ।

किं वेह बहुनोक्तेन, प्रत्यक्षेणैव दृश्यते ।
दोषोऽस्य वर्तमानेऽपि, तथा भण्डन-लक्षणः ॥२॥

अर्थ - मद्यपान के दूषणों के बारे में ज्यादा कहने से क्या ? मद्यपान से वर्तमान में भी असभ्य भाषण, मार-पीट आदि दोष प्रत्यक्ष देखे जाते हैं ।

श्रूयते च ऋषिर्मद्यात्, प्राप्तज्योतिर्महातपाः ।
स्वर्गाङ्गनाभिराक्षिप्तो, मूर्खवन्निधनं गतः ॥३॥

कश्चिदृषिस्तपस्तेपे, भीत इन्द्रः सुरस्त्रियः ।
क्षोभाय प्रेषयामास, तस्यागत्य च तास्तकम् ॥४॥

विनयेन समाराध्य, वरदाऽभिमुखं स्थितिम् ।
जगुर्मद्यं तथा हिंसां, सेवस्वाब्रह्म वेच्छया ॥५॥

स एवं गदितस्ताभि - र्द्वयोर्नरकहेतुताम् ।
आलोच्य मद्यरूपं च, शुद्धकारणपूर्वकम् ।।६।।

मद्यं प्रपद्य तद्भोगान्नष्टधर्मस्थितिर्मदात् ।
विदंशार्थमजं हत्वा, सर्वमेव चकार सः ।।७।।

ततश्च भ्रष्टसामर्थ्यः, स मृत्वा दुर्गतिं गतः ।
इत्थं दोषाकरो मद्यं, विज्ञेयं धर्मचारिभिः ।।८।।

अर्थ - उग्र तप से अणिमादि आठ प्रकार की लब्धियों को प्राप्त करने पर भी एक ऋषि देवांगनाओं से आकर्षित होकर मद्यपान करने से मूर्ख मनुष्य के समान मृत्यु को प्राप्त हुआ; ऐसा पुराण-कथाओं में सुना जाता हैं। किसी ऋषि ने जंगल में रहकर हजारों साल तक उग्र तप की साधना की। उग्र तप के प्रभाव से यह ऋषि मुझे इंद्रपद से च्युत करेगा, ऐसी शंका से इंद्र घबरा गया। ऋषि को तप की साधना से पतित करने के लिए देवांगनाओं को उसके पास भेजा। ऋषि के पास आकर देवांगनाओं ने अंजलिपूर्वक प्रणाम, विविध प्रकार की स्तुति आदि अनेक प्रकार के विनय से ऋषि को प्रसन्न किया। प्रसन्न हुए ऋषि ने देवांगनाओं से वरदान मांगने को कहा। देवांगनाओं ने मद्य, हिंसा अथवा अब्रह्म इन तीनों में से किसी एक का सेवन करो ऐसा कहा। यह सुनकर ऋषि ने सोचा कि इन तीनों में से

किसका सेवन करे ? विचार कर हिंसा और अब्रह्म नरक के कारण हैं, जबकि मद्य गोल, धावड आदि शुद्ध वस्तुओं से बनने के कारण निर्दोष हैं, ऐसा निर्णय कर मद्यपान का स्वीकार कर मद्यपान किया। अधिक स्वाद के लिए मदिरा के साथ बकरे को मारकर मांस का भी सेवन किया। इस प्रकार केवल मद्यपान के लिए हिंसादि सब पाप किये। उसके परिणाम में तप का सामर्थ्य नष्ट हो गया। अंत में मरकर वह ऋषि नरक में गया। इस प्रकार धर्मियों के द्वारा मद्य को दोषों की खान जानना चाहिए।

● ● ●

२०. अथ मैथुनदूषणाष्टकम्

रागादेव नियोगेन, मैथुनं जायते यतः ।
ततः कथं न दोषोऽत्र, येन शास्त्रे निषिध्यते ॥१॥

अर्थ – मैथुनसेवन राग से ही होता हैं। इससे मैथुन में दोष क्यों नहीं ? जिससे शास्त्र में मैथुन दोष का निषेध किया गया हैं ।

धर्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेस्वधिकारिणः ।
ऋतुकाले विधानेन, यत्स्याद्दोषो न तत्र चेत् ॥२॥

नापवादिककल्पत्वान्नैकान्तेनत्यसङ्गतम् ।
वेदं ह्यधीत्य स्नायाद् यदधीत्यैवेति शासितम् ॥३॥

स्नायादेवेति न तु यत्, ततो हीनो गृहाश्रमः ।
तत्र चैतदतो न्यायात्, प्रशंसाऽस्य न युज्यते ॥४॥

अर्थ – धर्म के लिए पुत्र की इच्छावाला गृहस्थ ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ स्मृति में कही हुई विधिपूर्वक मैथुन सेवन करे तो उसमें दोष नहीं है, ऐसा यदि तुम कहते हो तो वह ठीक नहीं हैं ।

'आपवादिककल्पत्वाद्' – कारण कि मैथुन सेवन आपवादिक क्रिया हैं । आपवादिक क्रिया निर्दोष नहीं होती। संकट में पड़ा हुआ मनुष्य अपवाद रूप में स्वमांस का या स्वपुत्र आदि का मांस सेवन करे तो वह निर्दोष नहीं

माना जाता । न चले तो निषिद्ध वस्तु का भी अपवाद से सेवन करे । किन्तु अपवाद से सेवन करने पर वह वस्तु निर्दोष नहीं बन जाती । अतः मैथुनसेवन भी अपवाद से करना चाहिए । मैथुन स्वरूप से तो दोषित ही हैं । इससे नैकान्तेनेत्यसंगतम् 'मैथुन में सर्वथा दोष नहीं हैं', ऐसा कहना असंगत हैं ।

वेद की व्याख्या करनेवालों ने वेद पढ़कर (मैथुन सेवन के लिए) स्नान करे, इस वाक्य का वेद पढ़कर ही (मैथुन सेवन के लिए) स्नान करे ऐसा अर्थ किया हैं । किन्तु वेद पढ़कर (मैथुनसेवन के लिए) स्नान करे ही ऐसा अर्थ नहीं किया । यहां 'वेद पढ़कर ही' इस प्रकार वेद पठन के ऊपर जोर दिया हैं, नहीं कि मैथुनसेवन पर । इसका अर्थ यह हुआ कि - मैथुनसेवन के बिना न चले तो वेद पढ़कर ही मैथुनसेवन करे । मैथुन सेवन करना नहीं और यदि करना पड़े तो भी वेद पढ़े बिना तो कदापि नहीं करना । इससे (यति आश्रम की अपेक्षा से) गृहस्थाश्रम हीन कक्षा का हैं । तत्र चैतद् - गृहस्थाश्रम में मैथुन संभवित हैं । इससे न्याय की दृष्टि से मैथुन की प्रशंसा योग्य नहीं हैं ।

अदोषकीर्तनादेव, प्रशंसा चेत् कथं भवेत् ।
अर्थापत्त्या सदोषस्य, दोषाभाव-प्रकीर्तनात् ॥५॥

अर्थ - 'न च मैथुने' इस वचन से मैथुन में दोष का अभाव कहे जाने से मैथुन की प्रशंसा योग्य हैं, ऐसा मानना

ठीक नहीं । कारण कि वेद पढ़कर स्नान करे, इस वाक्य का वेद पढ़कर ही स्नान करे ऐसा अर्थ किया हैं । अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से मैथुन दोषयुक्त हैं, ऐसा सिद्ध होता हैं । अर्थापत्ति से दूषित सिद्ध हुए मैथुन में दोषाभाव कहनेवाले 'न च मैथुने' इस अप्रमाणभूत वचन से मैथुन को निर्दोष कैसे मान सकते हैं ? और प्रशंसा किस प्रकार हो ?

तत्र प्रवृत्तिहेतुत्वात्, त्याज्यबुद्धेरसम्भवात् ।
विद्युक्तेरिष्टसंसिद्धे - रुक्तिरेषा न भद्रिका ॥६॥

अर्थ - न च मैथुने अर्थात् मैथुन में दोष नहीं हैं । यह वचन अप्रमाणिक हैं, कारण कि दूषित मैथुन में प्रवृत्ति कराने का कारण हैं, मैथुन दूषित होने से त्याज्य हैं, ऐसा ज्ञान न होने से (उल्टा अन्य कर्तव्य अनुष्ठानों के समान) मैथुन अनुष्ठान (विधेय) हैं ऐसा कहने से, लोगों को 'इष्ट था और वैद्य ने कहा' उस प्रकार इष्ट की सिद्धि होने के कारण यह उक्ति कल्याणकारक नहीं है ।

प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः ।
नलिकातप्तकणक - प्रवेश-ज्ञाततस्तथा ॥७॥

अर्थ - श्री महावीर स्वामी आदि महर्षियों ने मैथुन जीवों का नाश करनेवाला हैं, इस प्रकार शास्त्र (भगवती) में नली के दृष्टांत से कहा हैं । रूई से भरी हुई नली में अग्नि से धधकते हुए लोहे की छड़ का प्रक्षेप किया जाए तो जैसे

समस्त रूई जलकर भस्म हो जाती हैं वैसे ही मैथुन सेवन से स्त्री की योनि में स्थित जीव नष्ट हो जाते हैं ।

मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्धनम् ।
तस्माद्विषान्नवत्याज्य-मिदं मृत्युमनिच्छता ॥८॥

अर्थ - मैथुन अधर्म का मूल होने से संसार-भाव को बढ़ानेवाला हैं । इससे (संसार नहीं चाहनेवाला जीव) मरण नहीं चाहनेवाला जीव विषमिश्रित अन्न का त्याग करता हैं वैसे ही मैथुन का भी त्याग करना चाहिए ।

• • •

२१. अथ सूक्ष्मबुद्ध्यष्टकम्

सूक्ष्मबुद्ध्या सदा ज्ञेयो, धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः ।
अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव, तद्विघातः प्रसज्यते ॥१॥

अर्थ – धर्म के अर्थी मनुष्य को धर्म सदा सूक्ष्मबुद्धि से जानना चाहिए । अन्यथा धर्मबुद्धि से – धर्म के आशय से भी धर्म का व्याघात – नाश होता हैं ।

गृहीत्वा ग्लानभैषज्य – प्रदानाभिग्रहं यथा ।
तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य, शोकं समुपगच्छतः ॥२॥

अर्थ – जैसे – ग्लान को औषध देने का अभिग्रह लेने के बाद, अभिग्रह का काल पूर्ण होने तक, कोई भी साधु ग्लान न होने से औषध देने का अवसर न आने के कारण शोक करनेवाले को धर्म के आशय से अधर्म होता हैं ।

गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित् ।
अहो मेऽधन्यता कष्टं, न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥३॥

अर्थ – मैंने श्रेष्ठ अभिग्रह तो ग्रहण किया, किन्तु कोई भी साधु कभी भी बीमार नहीं हुआ ! अरे ! रे ! मैं अधन्य हूँ ! अफसोस की बात हैं कि मेरा इष्ट कार्य सिद्ध नहीं हुआ !

एवं ह्येतत्समादानं, ग्लानभावाभिसन्धिमत् ।
साधूनां तत्त्वतो यत् तत्, दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः ॥४॥

अर्थ – इस प्रकार अभिग्रह का स्वीकार करनेवाले

महात्माओं को परमार्थ से दुष्ट जानना । कारण कि उस अभिग्रह में 'यदि कोई साधु ग्लान हो तो अच्छा, जिससे मेरा अभिग्रह सफल हो,' ऐसा साधुओं की बीमारी का आशय होने से वह कर्मबंध का हेतु बनता हैं ।

लौकिकैरपि चैषोऽर्थो दृष्टः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः ।
प्रकारान्तरतः कैश्चि-दत एतदुदाहृतम् ॥५॥

अङ्गेष्वेव जरां यातु, यत्त्वयोपकृतं मम ।
नरः प्रत्युपकाराय विपत्सु लभते फलम् ॥६॥

अर्थ - कुछ विद्वानों का भी इस अर्थ का - अज्ञानता से, धर्मबुद्धि से होनेवाले धर्मव्याघात का ज्ञान हैं । इससे उन्होंने निम्नानुसार कहा हैं ।

(राम तारा को...प्राप्त करता है ।)

एवं विरुद्धदानादौ, हीनोत्तमगतेः सदा ।
प्रव्रज्यादिविधाने च, शास्त्रोक्तन्यायबाधिते ॥७॥

द्रव्यादिभेदतो ज्ञेयो, धर्मव्याघात एव हि ।
सम्यग्माध्यस्थ्यमालम्ब्य, श्रुतधर्मव्यपेक्षया ॥८॥

अर्थ - इस प्रकार सदा शास्त्रविरुद्ध दानादि में तथा शास्त्रोक्त विधि से रहित प्रव्रज्यादि करने में हीनोत्तमगतेः - अनुचित को उचित जानने से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को आश्रय कर धर्मव्याघात ही हैं । इस धर्मव्याघात को माध्यस्थ बनाकर आगम के अनुसार अच्छी तरह जानना ।

२२. अथ भावशुद्ध्यष्टकम्

भावशुद्धिरपि ज्ञेया, यैषा मार्गानुसारिणी ।
प्रज्ञापनाप्रियात्यर्थं, न पुनः स्वाऽऽग्रहात्मिकी ॥१॥

अर्थ – भावशुद्धि भी यदि जिनोक्त मार्ग का अनुसरण करती हो तथा जिसमें आगमार्थ का उपदेश अत्यंत प्रिय हो, वही पारमार्थिक जानना चाहिए, न कि स्वाग्रह – अपना आग्रह । कारण कि स्वाग्रह भाव की अशुद्धि रूप हैं ।

रागो द्वेषश्च मोहश्च, भावमालिन्यहेतवः ।
एतदुत्कर्षतो ज्ञेयो, हन्तोत्कर्षोऽस्य तत्त्वतः ॥२॥

तथोत्कृष्टे च सत्यस्मिन्, शुद्धिर्वै शब्दमात्रकम् ।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्प – निर्मितं नार्थवद् भवेत् ॥३॥

अर्थ – राग, द्वेष और मोह भावमालिन्य के – भाव अशुद्धि के कारण हैं । इससे परमार्थ से रागादि – वृद्धि से भावमलिनता की ही वृद्धि जानना चाहिए । रागादि के उत्कर्ष से स्वाग्रह की वृद्धि होने पर भावशुद्धि अर्थ रहित शब्दमात्र हैं । जो स्वबुद्धि से कल्पनारूप शिल्प से रचित हो वह निरर्थक होता हैं । अर्थात् जहाँ रागादि के उत्कर्ष से केवल स्वाग्रह ही हो वहाँ भावशुद्धि होती ही नहीं । फिर भी भावशुद्धि वहाँ हैं, ऐसा कोई कहे तो वह भावशुद्धि कल्पित होने से निरर्थक हैं ।

न मोहोद्रिक्तताऽऽभावे, स्वाग्रहो जायते क्वचित् ।
गुणवत्पारतन्त्र्यं हि, तदनुत्कर्षसाधनम् ॥४॥

अत एव आगमज्ञोऽपि, दीक्षादानादिषु ध्रुवम् ।
क्षमाश्रमणहस्तेनेत्याह, सर्वेषु कर्मसु ॥५॥

अर्थ - रागादि की मंदता में स्वाग्रह कभी भी नहीं होता तथा गुणवान के आधीन रहने से रागादि की मंदता होती हैं। इसीलिए आगमज्ञाता भी प्रव्रज्याप्रदान आदि सर्व कार्यों में 'क्षमाश्रमण हस्तेन' ऐसा अवश्य कहते हैं। अर्थात् मैं यहाँ सर्वविरति आरोपण आदि जो कुछ करता हूँ वह क्षमाश्रमण - पूर्व महापुरुषों के हाथों से करता हूँ, ऐसा अवश्य कहते हैं।

इदं तु यस्य नास्त्येव, स नोपायेऽपि वर्तते ।
भावशुद्धेः स्वपरयो - र्गुणाद्यज्ञस्य सा कुतः ॥६॥

अर्थ - जो गुणवान के अधीन ही नहीं, वह भावशुद्धि के उपाय भी नहीं करता तथा अपने गुण-दोषों से और पर के गुणों से अज्ञात हैं। अन्यथा गुणवान के अधीन क्यों न बने ? इससे उसकी भावशुद्धि कहाँ से होगी ?

तस्मादासन्नभव्यस्य, प्रकृत्या शुद्धचेतसः ।
स्थानमानान्तरज्ञस्य, गुणवद्बहुमानिनः ॥७॥

औचित्येन प्रवृत्तस्य, कुग्रहत्यागतो भृशम् ।
सर्वात्राऽऽगमनिष्ठस्य, भावशुद्धिर्यथोदिता ॥८॥

अर्थ – इससे १. जो अल्पकाल में मोक्ष जानेवाला हो, २. स्वाभाविक रीति से जिसका मन शुद्ध हो, ३. जो गुणों के स्थान रूप आचार्यादि को तथा उनके मान–पूजा के अंतर को जानते हो, अर्थात् आचार्य में अमुक गुण हैं, उपाध्याय में अमुक गुण हैं, इस प्रकार गुणों के स्थान आचार्य, उपाध्याय आदि को जानता हैं तथा उपाध्याय की अमुक प्रकार से पूजा करनी उचित हैं तथा उपाध्याय की पूजा से जो लाभ हो उससे आचार्य की पूजा से अधिक लाभ होता हैं, इस प्रकार स्वरूप और फल की दृष्टि से आचार्यादि की पूजा के अंतर को जानता हैं । ४. जिसका गुणी पुरुषों के प्रति बहुमान हो, ५. जो विहित अनुष्ठानों में यथायोग्य प्रवृत्ति करता हो, ६. कदाग्रह का त्यागकर सर्वत्र आगम को अत्यंत प्रमाण मानता हो, इस प्रकार के जीव की भावशुद्धि पारमार्थिक हैं । ऐसी भावशुद्धि से धर्मव्याघात नहीं होता ।

• • •

२३. अथ शासनमालिन्यवर्जनाष्टकम्

यः शासनस्य मालिन्येऽनाभोगेनापि वर्त्तते ।
स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वा - दन्येषां प्राणिनां ध्रुवम् ॥१॥

बध्नात्यपि तदेवालं, परं संसारकारणम् ।
विपाकदारुणं घोरं, सर्वानर्थविवर्धनम् ॥२॥

अर्थ - जो अन्जाने में भी जैनशासन की अवहेलना हो ऐसी प्रवृत्ति करता हैं, वह जैनशासन की अवहेलना के द्वारा अवश्य अन्य - (अवहेलना करनेवाले) प्राणियों के मिथ्यात्व का कारण बनता हैं । अर्थात् जैनशासन के बारे में विपरीत समझ उत्पन्न करता हैं । इससे स्वयं भी संसार का कारण, विपाक में दारुण, सर्व अनर्थों को बढ़ानेवाला, ऐसा प्रकृष्ट मिथ्यात्व मोहनीय कर्म को (अत्यंत निकाचित आदि) बांधता हैं ।

यस्तून्नतौ यथाशक्ति, सोऽपि सम्यक्त्वहेतुताम् ।
अन्येषां प्रतिपद्येह, तदेवाप्नोत्यनुत्तरम् ॥३॥

प्रक्षीणतीव्रसङ्क्लेशं, प्रशमादिगुणान्वितम् ।
निमित्तं सर्वसौख्यानां, तथा सिद्धिसुखावहम् ॥४॥

अर्थ - जो जैनशासन की उन्नति हो, वैसी प्रवृत्ति यथाशक्ति करता हैं, वह अन्य प्राणियों के सम्यक्त्व में निमित्त बनकर स्वयं भी अनंतानुबंधी कषाय के उदयरूप तीव्र संक्लेश से अत्यंत रहित, प्रशमादि गुणों से युक्त, सर्व

प्रकार के सुखों का कारण, मोक्ष को प्राप्त करानेवाला, अनुत्तर (क्षायिक) सम्यक्त्व प्राप्त करता हैं ।

अतः सर्वयत्नेन, मालिन्यं शासनस्य तु ।
प्रेक्षावता न कर्तव्यं, प्रधानं पापसाधनम् ॥५॥

अर्थ – इससे बुद्धिमान पुरुष को संपूर्ण प्रयत्न से – किसी भी प्रकार से शासन–मालिन्य नहीं करना चाहिए, कारण कि शासनमालिन्य पाप का – अशुभ कर्म का मुख्य कारण हैं ।

अस्माच्छासनमालिन्याज्जातौ जातौ विगर्हितम् ।
प्रधानभावादात्मानं, सदा दूरीकरोत्यलम् ॥६॥

अर्थ – इस शासनमालिन्य से प्रत्येक भव में हीन जाति आदि में उत्पन्न होने से अत्यंत निन्दित स्वयं की आत्मा को संसार–सुख, संपत्ति, स्वजन आदि के प्रभुत्व से सदा अत्यंत दूर करता हैं ।

कर्तव्या चोन्नतिः सत्यां, शक्ताविह नियोगतः ।
अवन्ध्यं बीजमेषा यत्, तत्त्वतः सर्वसम्पदाम् ॥७॥

अर्थ – किसी भी प्रकार से शासन की अवहेलना का त्याग करना ही चाहिए और शक्ति हो तो जैनशासन की उन्नति करनी चाहिए । कारण कि परमार्थ से शासनप्रभावना सर्व प्रकार की संपत्तियों का अमोघ उपाय हैं ।

अत उन्नतिमाप्नोति, जातौ जातौ हितोदयाम् ।
क्षयं नयति मालिन्यं, नियमात्सर्ववस्तुषु ।।८।।

अर्थ – इस शासन प्रभावना से जीव प्रत्येक भव में कल्याण की अनुबंधवाली उन्नति पाता हैं और अवश्य सर्व वस्तुओं में दूषणों का क्षय होता हैं, अर्थात् जाति, बुद्धि आदि सर्वभाव हीनता आदि दूषणों से रहित उत्तम प्रकार के प्राप्ति होते हैं ।

●●●

[तत्तथा शोभनं दृष्ट्वा, साधु शासनमित्यदः ।
प्रतिपद्यन्ते तदैवेके, बीजमन्येऽस्य शोभनम् ।।४।।

अर्थ – शासनप्रभावना हो वैसे विशिष्ट उदारतादिपूर्वक उच्च प्रकार के पूजादि अनुष्ठानों को देखकर "जैन शासन सुंदर है" ऐसी प्रशंसा से कई जीव उसी समय सम्यक्त्व करते को प्राप्त । कई जीव सम्यक्त्व के अवन्ध्य बीज को प्राप्त करते हैं ।

सामान्येनापि नियमाद् वर्णवादोऽत्र शासने ।
कालान्तरेण सम्यक्त्व हेतुतां प्रतिपद्यते ।।५।।

अर्थ – इस शासन के संबंध में सामान्य से भी वर्णवाद – "जैनशासन भी सुंदर हैं" ऐसी प्रशंसा अवश्य भविष्य में सम्यक्त्व का कारण हैं ।

चौरोदाहरणादेवं प्रतिपत्तव्यमित्यदः ।
कौशाम्ब्यां स वणिग्भूत्वा, बुद्ध एकोऽपरो न तु ।।६।।

अर्थ – जैनशासन की प्रशंसा भविष्य में सम्यक्त्व का कारण बनती हैं, ऐसा चोर के उदाहरण से जाना जा सकता हैं। जैनशासन की प्रशंसा करनेवाला चोर कोशांबी नगरी में वणिक् रूप में उत्पन्न होकर सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। जबकि अन्य – उसके मित्र ने सम्यक्त्व नहीं पाया।

इति सर्वप्रयत्नेनोपघातः, शासनस्य तु ।
प्रेक्षावता न कर्त्तव्य आत्मानो हितमिच्छता ।।७।।

कर्त्तव्या चोन्नतिः सत्यां, शक्ताविह नियोगतः ।
प्रधानं कारणं ह्येषा, तीर्थकृन्नाम कर्मणः ।।८।।

अर्थ – इससे आत्महित को चाहनेवाले बुद्धिमान पुरुष को किसी भी प्रकार से शासन की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, और शक्ति हो तो अवश्य जैनशासन की प्रभावना करानी चाहिए। कारण कि जैनशासन की प्रभावना तीर्थंकर नामकर्म के बंध का प्रधान कारण हैं।]

● ● ●

२४. अथ पुण्यादिचतुर्भङ्ग्यष्टकम्

गेहाद् गेहांतरं कश्चिच्छोभनादधिकं नरः ।
याति यद्वत्सुधर्मेण, तद्वदेव भवाद् भवम् ॥१॥

अर्थ – जैसे कोई मनुष्य अच्छे घर से, उससे भी दूसरे अधिक सुंदर घर में रहने के लिए जाता हैं, वैसे ही जीव पुण्यानुबंध पुण्य के उदय से मनुष्यादि सुंदर भव से अन्य देव आदि सुंदर भव में जाता हैं ।

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिच्छोभनादितरन्नरः ।
याति यद्वदसद्धर्मात्, तद्वदेव भवाद् भवम् ॥२॥

अर्थ – जैसे कोई मनुष्य अच्छे घर से अन्य खराब घर में रहने के लिए जाता हैं, वैसे ही जीव पापानुबंधी पुण्य के उदय से मनुष्यादि शुभ भव से अन्य नरकादि अशुभ भव में जाता हैं । यह पुण्य निदान (नियाणा) और अज्ञानता से दूषित धर्म–अनुष्ठान से (ब्रह्मदत्त चक्री आदि के समान) प्राप्त होता हैं ।

गेहाद् गेहान्तरं कश्चि–दशुभादधिकं नरः ।
याति यद्वन्महापापात्, तद्वदेव भवाद् भवम् ॥३॥

अर्थ – जैसे कोई मनुष्य खराब घर में से अन्य अधिक खराब घर में रहने के लिए जाता हैं, वैसे ही जीव पापानुबंधी पाप के उदय से तिर्यंचादि अशुभ भव से अन्य अधिक अशुभ नरक आदि भव में जाता हैं । घोर हिंसादि से ऐसा पाप बंधता हैं ।

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिदशुभादितरन्नरः ।
याति यद्वत्सुधर्मेण, तद्वदेव भवाद् भवम् ॥४॥

अर्थ – जैसे कोई मनुष्य खराब घर से अन्य अच्छे घर में जाता हैं, वैसे ही जीव पुण्यानुबंधी पाप के उदय से तिर्यंच आदि अशुभ भव से मनुष्यादि शुभ भव में जाता हैं। पाप के उदय के समय समता रखने से (कर्म निर्जरा और) पुण्यबंध होता हैं। इससे यह पाप पुण्यानुबंधी बनता हैं।

शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं, कर्तव्यं सर्वथा नरैः ।
यत्प्रभावादपातिन्यो, जायन्ते सर्वसम्पदः ॥५॥

अर्थ – इस कारण से मनुष्यों को सर्वथा (जो-जो उपाय हो उन सब उपायों से) पुण्यानुबंधी पुण्य करना चाहिए। इस पुण्य के प्रताप से सर्व संपत्तियाँ अविनश्वर बनती हैं।

सदागमविशुद्धेन, क्रियते तच्च चेतसा ।
एतच्च ज्ञानवृद्धेभ्यो, जायते नान्यतः क्वचित् ॥६॥

अर्थ – पुण्यानुबंधी पुण्य सत्य आगम से विशुद्ध ऐसे चित्त से किया जाता हैं, और सत्य आगम से विशुद्ध चित्त ज्ञान-वृद्धों से होता हैं, अन्य किसी कारण से नहीं।

चित्तरत्नमसङ्क्लिष्ट - मान्तरं धनमुच्यते ।
यस्य तन्मुषितं दोषैस्तस्य शिष्टा विपत्तयः ॥७॥

अर्थ – राग आदि संक्लेशों से रहित चित्त रूप रत्न

आंतरिक (आध्यात्मिक) धन कहा जाता हैं । जिसका चित्तरत्न रागादि दोषों के द्वारा चुराया गया हैं, उसको विपत्तियाँ आनी ही बाकी रहती हैं ।

प्रकृत्या मार्गगामित्वं, सदपि व्यज्यते ध्रुवम् ।
ज्ञानवृद्धप्रसादेन, वृद्धिं चाप्नोत्यनुत्तराम् ॥

अर्थ - चित्त का मार्गगामित्व - आगमविशुद्धि स्वाभाविक होने पर भी ज्ञानवृद्धों की प्रसन्नता से अवश्य व्यक्त होता हैं और अत्यंत वृद्धि को प्राप्त होता हैं ।

दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरुपूजनम् ।
विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ॥८॥

अर्थ - १. प्राणि-दया - सर्व प्रकार के जीवों पर कृपा। २. वैराग्य - संसार से विरक्ति ३. विधिपूर्वक गुरुपूजन - भक्त-पान प्रदान, वंदन आदि ४. विशुद्ध शीलवृत्ति - अहिंसादि व्रतों का निरतिचार पालन ।

• • •

२५. अथ पुण्यानुबन्धिपुण्याष्टकम्

अतः प्रद्धकर्षसम्प्राप्ताद्, विज्ञेयं फलमुत्तमम् ।
तीर्थकृत्वं सदौचित्य - प्रवृत्या मोक्षसाधनम् ।।१।।

अर्थ - अत्यंत प्रकृष्ट पुण्यानुबंधी पुण्य से तीर्थंकर पद रूप उत्तम फल प्राप्त होता हैं। तीर्थंकर - पद सदा उचित प्रवृत्तिपूर्वक मोक्ष देनेवाला हैं।

सदौचित्यप्रवृत्तिश्च, गर्भादारभ्य तस्य यत् ।
तत्राप्यभिग्रहो न्याय्यः, श्रूयते हि जगद्गुरोः ।।२।।

अर्थ - गर्भावस्था से ही तीर्थंकर की सदा उचित प्रवृत्ति होती हैं। कारण कि जगद्गुरु महावीर स्वामी का गर्भावस्था में भी अभिग्रह उचित सुना जाता हैं। अर्थात् भगवान महावीर ने प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद लिया हुआ अभिग्रह तो उचित था ही, किन्तु गर्भावस्था में लिया हुआ अभिग्रह भी उचित था।

पित्रुद्वेगनिरासाय, महतां स्थितिसिद्धये ।
इष्टकार्यसमृद्ध्यर्थ - मेवम्भूतो जिनागमे ।।३।।

अर्थ - माता-पिता के उद्वेग को दूर करने के लिए, मेरे दृष्टांत से अन्य उत्तम लोग भी माता-पिता के उद्वेग को दूर करके ही कोई भी प्रवृत्ति करे, यह जानने के लिए और इष्ट कार्य की मोक्ष की सिद्धि के लिए इस प्रकार का (निम्नलिखित श्लोक में) अभिग्रह आगम में सुना जाता हैं।

जीवितो गृहवासेऽस्मिन्, यावन्मे पितराविमौ ।
तावदेवाधिवत्स्यामि, गृहानहमपीष्टतः ।।४।।

अर्थ - जब तक मेरे माता-पिता इस गृहवास में जीवित रहेंगे तब तक ही मैं भी स्वेच्छापूर्वक घर में रहूँगा ।

इमौ शुश्रूषमाणस्य, गृहानावासतो गुरू ।
प्रव्रज्याप्यानुपूर्व्येण, न्याय्याऽन्ते मे भविष्यति ।।५।।

अर्थ - घर में रहकर पूज्य माता-पिता की सेवा करते हुए, अनुक्रम से अंत में मेरी योग्य प्रव्रज्या भी होगी ।

सर्वपापनिवृत्तिर्यत्, सर्वथैषा सतां मता ।
गुरूद्वेगकृतोऽत्यन्तं, नेयं न्याय्योपपद्यते ।।६।।

अर्थ - विद्वान पुरुषों ने इस प्रव्रज्या को सर्व प्रकार से सर्व पापों से निवृत्ति रूप माना हैं । इससे माता-पिता को उद्वेग करनेवाले की प्रव्रज्या बिल्कुल योग्य नहीं हैं ।

प्रारम्भमङ्गलं ह्यस्या, गुरुशुश्रूषणं परम् ।
एतौ धर्मप्रवृत्तानां, नृणां पूजास्पदं महत् ।।७।।

अर्थ - माता-पिता की सेवा प्रव्रज्या का प्रथम भाव मंगल हैं । कारण कि धर्म में प्रवृत्त मनुष्यों के लिए माता-पिता परम पूज्य है ।

स कृतज्ञः पुमाँल्लोके, स धर्मगुरुपूजकः ।
स शुद्धधर्मभाक् चैव, च एतौ प्रतिपद्यते ।।८।।

अर्थ - जो माता-पिता की सेवा-पूजा करता हैं, वही लोक में कृतज्ञ कहा जाता हैं, वही धर्मगुरु का पूजक बनता हैं, वही निर्दोष धर्माराधना करनेवाला होता हैं ।

२६. अथ महादानस्थापनाष्टकम्

जगद्गुरोर्महादानं, सङ्ख्यावच्चेत्यसङ्गतम् ।
शतानि त्रीणि कोटीनां, सूत्रमित्यादि चोदितम् ॥१॥

अन्यैस्त्वसङ्ख्यमन्येषां, स्वतन्त्रेषूपवर्ण्यते ।
तत्तदेवेह तद्युक्तं, महच्छब्दोपपत्तितः ॥२॥

ततो महानुभावत्वात्, तेषामेवेह युक्तिमत् ।
जगद्गुरुत्वमखिलं, सर्वं हि महतां महत् ॥३॥

अर्थ – तीर्थंकर का दान महादान हैं और संख्यावाला (परिमित) हैं यह असंगत हैं। महादान और संख्यावाला यह किस प्रकार संभवित हैं। तीर्थंकर ३८८ करोड़ और ८० लाख सुवर्ण का दान देते हैं, ऐसा शास्त्र में कथित होने से तीर्थंकर का दान संख्यावाला हैं, यह निश्चित हैं।

बौद्ध अपने शास्त्र में बोधिसत्त्वों के दान को असंख्य (अपरिमित) कहते हैं। अतः बोधिसत्त्व का ही दान महादान हैं, यह संगत हैं। कारण कि वह दान असंख्य होने से उसीमें महान शब्द का प्रयोग किया जा सकता हैं।

बोधिसत्त्वों का दान महादान होने से वे ही महानुभाव है और संपूर्णतया जगद्गुरु है, यह संगत हैं। महापुरुषों का सब कुछ महान होता हैं।

एवमाहेह सूत्रार्थं, न्यायतोऽनवधारयन् ।
कश्चिन्मोहात्ततस्तस्य, न्यायलेशोऽत्र दर्श्यते ।।४।।

अर्थ – यहाँ पूर्वपक्ष वादी सौगत सूत्र के (–तीर्थंकरों के दान के संख्यासूचक सूत्र के) अर्थ को भली भांति जाने बिना अज्ञानता से इस प्रकार (पूर्व में जो कहा है वैसा) कहते हैं । इससे यहाँ उनको थोड़ी युक्ति कहते हैं ।

महादानं हि संख्यावदर्थ्यभावाज्जगद्गुरोः ।
सिद्धं वरवरिकातस्तस्याः सूत्रे विधानतः ।।५।।

अर्थ – तीर्थंकर का महादान अर्थी न होने से संख्यावाला हैं, न कि उदारता अथवा द्रव्य के अभाव से । कारण कि तीर्थंकरों के महादान के समय वरवरिका की (जिसको जो चाहिए वहा माँगो) उद्घोषणा की जाती हैं, ऐसा शास्त्र में कहा गया हैं । अर्थात् तीर्थंकर तो अपरिमित दान देते हैं किन्तु उसको लेनेवाले ही बहुत कम लोग होने से दान परिमित होता हैं ।

तया सह कथं संख्या, युज्यते व्यभिचारतः ।
तस्माद्यथोदितार्थं तु, संख्याग्रहणमिष्यताम् ।।६।।

अर्थ – वरवरिका के साथ संख्या का मेल किस प्रकार होगा ? नहीं होगा । इससे परिमित दान में कोई कारण होना ही चाहिए । यह कारण हैं बहुत अर्थियों का अभाव । अर्थी बहुत हों तो वरवरिका से दिया जानेवाला दान परिमित

संख्यावाला नहीं होगा । इस प्रकार अर्थापत्ति से बहुत अर्थियों का अभाव सिद्ध होता हैं । बहुत अर्थियों के अभाव से दान संख्यावाला होता है ।

महानुभावताप्येषा, तद्भावे न यदर्थिनः ।
विशिष्टसुखयुक्तत्वात्, सन्ति प्रायेण देहिनः ॥७॥

अर्थ – तीर्थंकरों की उपस्थिति में लोग प्रायः विशिष्ट सुख से – संतोष से युक्त होने से दान नहीं माँगते हैं । तीर्थंकरों का अतिशय प्रभाव भी यही हैं ।

धर्मोद्यताश्च तद्योगात्, ते तदा तत्त्वदर्शिनः ।
महन्महत्त्वमस्यैव – मयमेव जगद्गुरुः ॥८॥

अर्थ – तथा तीर्थंकर विद्यमान होते हैं तब उनके संबंध से लोग तत्त्वदर्शी बनकर धर्म में उद्यत होते हैं । इस प्रकार संतोष रूप संपत्ति देने से तीर्थंकर का संख्यावाला ही दान महादान होने से तीर्थंकर ही महानुभाव महाप्रभावशाली हैं और जगद्गुरु हैं, न कि बोधिसत्त्व ।

• • •

२७. अथ तीर्थकृद्दानसफलतासिद्ध्यष्टकम्

कश्चिदाहाऽस्य दानेन, क इवार्थः प्रसिध्यति ।
मोक्षगामी ध्रुवं ह्येष, यतस्तेनैव जन्मना ॥१॥

अर्थ – दान से तीर्थंकर का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । तीर्थंकर उसी भव में मोक्ष में जानेवाले होने से मोक्ष-प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार कोई वादी कहता हैं ।

उच्यते कल्प एवाऽस्य, तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयात्सर्वसत्त्वानां, हित एव प्रवर्त्तते ॥२॥

धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः ।
अवस्थौचित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ॥३॥

अर्थ – तीर्थंकर नामकर्म के उदय से सर्व जीवों के हित के लिए ही प्रवृत्ति करने का तीर्थंकरो का कल्प-आचार होने से, वे दान करते हैं, न कि किसी फल की आशा से । तथा स्व-स्व भूमिका के अनुसार अनुकंपा-कृपा से दान करना । यह भी गृहस्थ या साधु सर्व जीवों का धर्म हैं । दान भी धर्म का अंग हैं यह बताने के लिए महामति तीर्थंकर दान देते है ।

शुभाशयकरं ह्येत – दाऽऽग्रहच्छेदकारि च ।
सदभ्युदयसाराङ्ग – मनुकम्पाप्रसूति च ॥४॥

अर्थ - शुभ आशय को उत्पन्न करता हैं, लक्ष्मी के ममत्व का नाश करता हैं, अनुबंधयुक्त कल्याण का प्रधान कारण हैं तथा अनुकंपा दया से उत्पन्न होता हैं, इसीलिए दान धर्म का अंग हैं ।

ज्ञापकं चात्र भगवान्, निष्क्रान्तोऽपि द्विजन्मने ।
देवदूष्यं ददद् धीमा - ननुकम्पाविशेषतः ॥५॥

अर्थ - साधुता में होने पर भी अतिशय दया से ब्राह्मण को देवदूष्य देनेवाले चार ज्ञान के मालिक भगवान महावीर (विशिष्ट संयोग उपस्थित होने पर साधु को भी अनुकंपा दान करना चाहिए) इस विषय में दृष्टांत रूप हैं।

इत्थमाशयभेदेन, नातोऽधिकरणं मतम् ।
अपि त्वन्यद् गुणस्थानं, गुणान्तरनिबन्धनम् ॥६॥

अर्थ - विशिष्ट संयोगों में विशिष्ट (यह बेचारा कर्म के कीचड़ से छूटकर दुःख से संपूर्ण मुक्त हो इत्यादि) अनुकंपा होने से असंयतदान से अधिकरण (पाप-प्रवृत्ति) होता हैं, ऐसा विद्वान नहीं मानते, किन्तु सर्वविरति आदि गुणों की प्राप्ति में कारण अविरति सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानक की प्राप्ति होती हैं, ऐसा मानते हैं ।

ये तु दानं प्रशंसन्ती - त्यादि सूत्रं तु यत्स्मृतम् ।
अवस्थाभेदविषयं, द्रष्टव्यं तन्महात्मभिः ॥७॥

अर्थ - 'जो दान की प्रशंसा करते हैं....' इत्यादि सूयगडांग का सूत्र अवस्थाविशेष - अपुष्ट आलंबन का आश्रय कर कहा गया हैं । ऐसा सज्जनों को समझना चाहिए।

एवं न कश्चिदस्यार्थस्तत्वतोऽस्मात्प्रसिध्यति ।
अपूर्वः किन्तु तत्पर्व-मेवं कर्म प्रहीयते ॥८॥

अर्थ - इस प्रकार - तीर्थंकरों का उस प्रकार का कल्प (आचार) होने से, दान के द्वारा परमार्थ से तीर्थंकरों का नया कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, बल्कि पूर्व में बद्ध तीर्थंकर नामकर्म का क्षय होता हैं ।

• • •

२८. अथ राज्यादिदानदूषणनिवारणाष्टकम्

अन्यस्त्याहास्य राज्यादि - प्रदाने दोष एव तु ।
महाधिकरणत्वेन, तत्त्वमार्गेऽविचक्षणः ॥१॥

अर्थ - तात्त्विक मार्ग में अज्ञान अन्य कोई वादी कहता हैं कि - राज्यादि महान अधिकरण (पाप का कारण) होने से तीर्थंकर स्वपुत्रादि को राज्यादि देते हैं, इसमें दोष हैं।

अप्रदाने हि राज्यस्य, नायकाभावतो जनाः ।
मिथो वै कालदोषेण, मर्यादाभेदकारिणः ॥२॥

विनश्यन्त्यधिकं यस्मा - दिह लोके परत्र च ।
शक्तौ सत्यामुपेक्षा च, युज्यते न महात्मनः ॥३॥

तस्मात्तदुपकाराय, तत्प्रदानं गुणावहम् ।
परार्थदीक्षितस्याऽस्य, विशेषेण जगद्गुरोः ॥४॥

एवं विवाहधर्मादौ, तथा शिल्पनिरूपणे ।
न दोषो ह्युतमं पुण्य - मित्थमेव विपच्यते ॥५॥

अर्थ - राज्य दूसरे को न दे तो निर्णायक बने लोग कालदोष से मर्यादा का भंग करेंगे । परिणाम इस लोक में प्राणनाश होगा अथवा लुटपाट आदि से परेशान होंगे और परलोक में, इस लोक में हिंसा, असत्य, परधन हरण, परदारागमन आदि किये गये पापों के कटु फल

भोगने पडेंगे। तथा इस अनर्थ से लोगों के रक्षण करने की शक्ति होने पर भी उपेक्षा करना यह महापुरुषों के योग्य नहीं । इससे लोगों के (अनर्थ से रक्षण रूप) उपकार के लिए राज्यादि का प्रदान गुणकारी हैं । उसमें भी परहितपरायाण जगद्गुरु तीर्थंकर भगवंत को विशेष करके लाभदायी हैं । इस प्रकार विवाह आदि क्रिया और शिल्प के उपदेश में भी दोष नहीं हैं । कारण कि वैसा करने से ही उनका तीर्थंकर नामकर्म रूप उत्कृष्ट पुण्य विपाक (उदय) को प्राप्त होता हैं।

किञ्चेहाऽधिकदोषेभ्यः, सत्त्वानां रक्षणं तु यत् ।
उपकारस्तदेवैषां, प्रवृत्त्यङ्गं तथास्य च ॥६॥

अर्थ - तथा प्रस्तुत में (राज्यदान, विवाहादि-क्रिया तथा शिल्प आदि का उपदेश) अधिक दोषों से जीवों का रक्षण यही भगवान का लोगों पर उपकार हैं और यही तीर्थंकर की राज्यप्रदानादि-प्रवृत्ति का कारण हैं । अर्थात् अधिक दोषों से जीवों का रक्षण करने के लिए ही तीर्थंकर राज्यप्रदान आदि की प्रवृत्ति करते हैं ।

नागादे रक्षणं यद्वद्, गर्ताद्याकर्षणेन तु ।
कुर्वन्न दोषवांस्तद्वदन्यथाऽसम्भवादयम् ॥७॥

अर्थ - गड्ढे में से खींचकर सर्प आदि से पुत्रादि का रक्षण करनेवाला दोष का पात्र नहीं हैं, वैसे ही अन्य किसी

भी प्रकार के महाअनर्थ से रक्षण का असंभव होने से राज्यप्रदानादि-प्रवृत्ति करनेवाले तीर्थंकर भी दोषी नहीं हैं ।

इत्थं चैतदिहैष्टव्य - मन्यथा देशनाप्यलम् ।
कुधर्मादिनिमित्तत्वाद्, दोषायैव प्रसज्यते ॥८॥

अर्थ - तीर्थंकर की राज्यप्रदान आदि प्रवृत्ति बहुत अनर्थों से बचानेवाली होने के कारण निर्दोष हैं, ऐसा मानना ही उचित हैं । अन्यथा भगवान की देशना भी कुधर्मों में निमित्त बनने से अत्यंत दोष के लिए होगी ।

• • •

२९. अथ सामायिकनिरूपणाष्टकम्

सामायिकं च मोक्षाङ्गं, परं सर्वज्ञभाषितम् ।
वासीचन्दनकल्पाना - मुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥१॥

अर्थ - सर्वज्ञ के द्वारा कथित सामायिक-समभाव रूप चारित्र मोक्ष का प्रधान कारण हैं । ज्ञान-दर्शन भी मोक्ष के कारण हैं, किन्तु सामायिक द्वारा कारण बनने से अप्रधान कारण हैं । यह सामायिक वासी-चंदन कल्प महात्माओं को होती हैं ।

निरवद्यमिदं ज्ञेय - मेकान्तेनैव तत्त्वतः ।
कुशलाशयरूपत्वात्, सर्वयोगविशुद्धितः ॥२॥

अर्थ - सामायिक में तीन योगों की विशुद्धि होने से वह कुशलआशय रूप एवं शुभपरिणाम रूप हैं । इससे सामायिक को परमार्थ से सर्वथा निरवद्य (सर्व प्रकार के पापों से रहित) जानना चाहिए ।

यत्पुनः कुशलं चित्तं, लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।
तत्तथौदार्ययोगेऽपि, चिन्त्यमानं न तादृशम् ॥३॥

अर्थ - किन्तु जो सामान्य लोगों की दृष्टि से शुभ के रूप में प्रतिष्ठित हैं, वह बुद्ध परिकल्पित कुशलचित्त सामान्य लोगों की दृष्टि से उदारता-युक्त होने पर भी विचार करने पर सामायिक-तुल्य नहीं हैं ।

मय्येव निपतत्वेतज्जगद्दुश्चरितं यथा ।
मत्सुचरितयोगाच्च मुक्तिः स्यात्सर्वदेहिनाम् ॥४॥

अर्थ – जगत के सभी प्राणियों का यह (–प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला) दुश्चरित मेरी आत्मा में ही आ पड़े और मेरे सुचारित्र से सभी प्राणियों की मुक्ति हो ।

असम्भवीदं यद्वस्तु, बुद्धानां निर्वृतिश्रुतेः ।
सम्भवित्ये त्वियं न स्यात्, तत्रैकस्याऽप्यनिर्वृतौ ॥५॥

अर्थ – किसी का दुश्चरित्र किसी में आ पड़े और अन्य के सच्चरित्र से जगत के सभी जीव मुक्ति पायें, यह वस्तु असंभवित हैं । कारण कि अनेक बुद्ध मुक्ति को प्राप्त हुए हैं । यदि यह वस्तु संभवित हो तो जगत में एक भी बुद्ध–जीव की मुक्ति न होने से इन अनेक बुद्धों की मुक्ति नहीं होगी ।

तदेवं चिन्तनं न्यायात्, तत्त्वतो मोह–सङ्गतम् ।
साध्ववस्थान्तरे ज्ञेयं, बोध्यादेः प्रार्थनादिवत् ॥६॥

अर्थ – उपर्युक्त न्याय की दृष्टि से उक्त चिन्तन (भावना) परमार्थ से मोहसंगत – मोह अवस्था में होनेवाला हैं । इससे यह चिन्तन सराग अवस्था में बोधि आदि की प्रार्थना के समान शुभ (लाभकारी) हैं ।

अपकारिणी सद्बुद्धि – र्विशिष्टार्थप्रसाधनात् ।
आत्मम्भरित्वपिशुना तदपायनपेक्षिणी ॥७॥

अर्थ - स्व-शरीर का मांस भक्षण करनेवाला शेर आदि अथवा प्रहार आदि करनेवाला दुर्जन आदि अपकारी कर्मक्षय में सहायक होते हुए मोक्ष को प्राप्त करानेवाला होने से अपकारी के संबंध में 'इसमें यह ठीक किया, यह अच्छा हैं,' इस प्रकार सद्बुद्धि परमार्थ से शुभ नहीं हैं। कारण कि उसमें केवल स्वार्थ विद्यमान हैं। अयोग्य करने से इसको कैसे-कैसे दुःख भोगने पडेंगे, इसका जरा भी विचार नहीं किया।

एवं सामायिकादन्य - दवस्थान्तरभद्रकम्।
स्याच्चित्तं तत्तु संशुद्धे - र्ज्ञेयमेकान्तभद्रकम् ॥८॥

अर्थ - इस प्रकार बुद्धपरिकल्पित और जैनपरिकल्पित कुशल चित्त समभाव से अन्य अवस्था में - सराग अवस्था में हितकर हैं। किन्तु सामायिक तो समस्त दोषों से रहित होने से एकांत से शुभ हैं।

• • •

३० अथ केवलज्ञानाष्टकम्

सामायिकविशुद्धात्मा, सर्वथा घातिकर्मणः ।
क्षयात्केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ॥१॥

अर्थ - सामायिक से विशुद्ध आत्मा घाती कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान - केवलदर्शन को प्राप्त करती हैं ।

ज्ञाने तपसि चारित्रे, सत्येवास्योपजायते ।
विशुद्धिस्तदतस्तस्य, तथाप्राप्तिरिहेष्यते ॥२॥

अर्थ - ज्ञान, तप और चारित्र ये तीन हों तो ही आत्मा की विशुद्धि होती हैं, (ये तीन सामायिक स्वरूप हैं) इसलिए सामायिक से हुई जीव-विशुद्धि से घाती कर्मों का क्षय होते ही केवलज्ञान की प्राप्ति मान्य हैं ।

स्वरूपमात्मनो ह्येतत्, किन्त्वनादिमलावृतम् ।
जात्यरत्नांशुवत्तस्य, क्षयात्स्यात्तदुपायतः ॥३॥

अर्थ - केवलज्ञान आत्मा का स्वरूप (स्वभाव) ही हैं। किन्तु खान में रहे हुए भव्य रत्न की किरणों की तरह अनादि कर्म-मल से ढंका हुआ हैं । उपाय (सामायिक) से अनादि कर्ममल के क्षय होते ही केवलज्ञान प्रकट होता हैं ।

आत्मनस्तत्स्वभावत्वाल्लोकालोकप्रकाशकम् ।
अत एव तदुत्पत्ति - समयेऽपि यथोदितम् ॥४॥

अर्थ - आत्मा का लोकालोक को प्रकाशित करने का स्वभाव होने से केवलज्ञान लोकालोक प्रकाशक हैं। इससे ही केवलज्ञान, उत्पत्ति के समय पर भी लोकालोक को प्रकाशित करता हैं।

आत्मस्थमात्मधर्मत्वात्, संवित्त्या चैवमिष्यते ।
गमनादेरयोगेन, नान्यथा तत्त्वमस्य तु ॥५॥

अर्थ - केवलज्ञान आत्मधर्म होने से आत्मा में ही रहता हैं। अपने स्वयं के अनुभव से भी यह वास्तविकता समझी जा सकती हैं। हमें ज्ञान का अनुभव आत्मा में ही होता हैं। आत्मा के बाहर कहीं पर भी कभी भी ज्ञान का अनुभव नहीं होता। केवलज्ञान भी ज्ञान ही हैं न ! अर्थात् अनुभव से भी केवलज्ञान आत्मा में ही रहता हैं। यह सिद्ध होता हैं।

यच्च चंद्रप्रभाद्यत्र, ज्ञानं तज्ज्ञातमात्रकम् ।
प्रभा पुद्गलरूपा यत्तद्धर्मो नोपपद्यते ॥६॥
अतः सर्वगताभास - मप्येतन्न यदन्यथा ।
युज्यते तेन सन्न्यायात्, संवित्त्याऽदोऽपि भाव्यताम् ॥७॥

अर्थ - यहाँ केवलज्ञान के स्वरूप को पहचानने के लिए दिया जानेवाला चंद्रप्रभा आदि का दृष्टान्त तो मात्र उपमा हैं। उपमा में सभी धर्मो की समानता नहीं होती। केवलज्ञान और चंद्रप्रभा में सभी धर्मों की समानता नहीं हैं।

अर्थात् केवलज्ञान, चंद्रप्रभा के समान हैं, अर्थात् जैसे चंद्रप्रभा प्रकाश रूप हैं वैसे ही केवलज्ञान भी प्रकाश रूप हैं इतना ही हैं। किन्तु जैसे चंद्रप्रभा वस्तु के पास जाकर वस्तु को प्रकाशित करती हैं वैसे केवलज्ञान भी वस्तु के पास जाकर प्रकाशित करता हैं, ऐसा अर्थ नहीं हैं। अर्थात् केवलज्ञान और चंद्रप्रभा में मात्र प्रकाश की समानता हैं। यदि इन दोनों में सभी धर्मों की समानता को स्वीकार किया जाए तो चंद्रप्रभा पुद्गल रूप द्रव्य होने से केवलज्ञान को जीव के रूप में नहीं माना जा सकेगा, द्रव्य के रूप में मानना पड़ेगा। अन्यथा सर्व धर्मों की समानता न हो सकेगी।

नाद्रव्योऽस्ति गुणोऽलोके, न धर्मान्तौ विभुर्न च ।
आत्मा तद्गमनाद्यस्य, नास्तु तस्माद् यथोदितम् ॥८॥

अर्थ - १. गुण द्रव्य के बिना रहता ही नहीं। केवलज्ञान गुण हैं। अतः द्रव्य के बिना न रहने से आत्मस्थ ही हैं।

२. केवलज्ञान का गमन (ज्ञेय वस्तु के पास जाना) स्वीकारे तो भी वह लोक में ही जा सकता हैं। कारण कि 'अलोके न धर्मान्तौ' अर्थात् अलोक में गति सहायक धर्मास्तिकाय न होने से गति हो ही नहीं सकती। धर्मास्तिकाय के बिना भी अलोक में गति हो सकती हैं, ऐसा कदाचित् मान लें तो भी अलोक का अंत न होने से

संपूर्ण अलोक में जा ही नहीं सकता। अतः यदि केवलज्ञान ज्ञेय पदार्थ के पास जाकर प्रकाशित करता हैं, ऐसा मानें तो केवलज्ञान अलोक प्रकाशक न बनेगा।

३. तथा 'विभुर्न च' आत्मा - आत्मा सर्वगत भी नहीं हैं। आत्मा सर्वगत हो तो केवलज्ञान आत्मस्थ ही रहकर वस्तु का स्पर्श कर प्रकाशित करे। किन्तु वैसा नहीं हैं। शरीर में ही चैतन्य की उपलब्धि होने से आत्मा शरीर प्रमाण हैं अर्थात् केवलज्ञान शरीर-प्रमाण आत्मा में रहकर लोकालोक प्रकाशक हैं।

• • •

३१. अथ तीर्थकृद्देशनाष्टकम्

वीतरागोऽपि सद्वेद्य - तीर्थकृन्नामकर्मणः ।
उदयेन तथा धर्म - देशनायां प्रवर्तते ॥१॥

अर्थ - तीर्थंकर वीतराग होने पर भी सद्वेद्य तीर्थंकर नामकर्म के उदय से समवसरण आदि लीला का अनुभव करते हुए धर्मदेशना देते हैं ।

वरबोधित आरभ्य, परार्थोद्यत एव हि ।
तथाविधं समादत्ते, कर्म स्फीताशयः पुमान् ॥२॥

अर्थ - जब विशिष्ट सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती हैं, तब से परहित करने में ही तत्पर उदार हृदयवान् मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म बांधता हैं ।

यावत्संतिष्ठते तस्य, तत्तावत्संप्रवर्तते ।
तत्स्वभावत्वतो धर्म - देशनायां जगद्गुरुः ॥३॥

अर्थ - तीर्थंकर नामकर्म के योग में तीर्थंकर का, धर्मदेशना करने का स्वभाव होने से जब तक तीर्थंकर नामकर्म का उदय हो तब तक जगद्गुरु तीर्थंकर धर्मदेशना देते हैं ।

वचनं चैकमप्यस्य, हितां भिन्नार्थगोचरम् ।
भूयसामपि सत्त्वानां, प्रतिपत्तिं करोत्यलम् ॥४॥

अर्थ - भगवान का एक ही प्रकार का वचन असंख्य जीवों को भी भिन्न-भिन्न अर्थ का हितकर स्पष्ट बोध कराता हैं ।

अचिन्त्यपुण्यसम्भार - सामर्थ्यादेतदीदृशम् ।
तथा चोत्कृष्ट पुण्यानां, नास्त्यसाध्यं जगत्त्रये ॥५॥

अर्थ - भगवान के एक ही प्रकार के वचन से असंख्य जीवों को भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध होने का कारण, उनका उस प्रकार के अचिन्त्य पुण्यप्रकर्ष का प्रभाव ही हैं । उत्तम पुण्यशाली जीवों को तीन लोक में कुछ भी असाध्य नहीं हैं ।

अभव्येषु च भूतार्था, यदसौ नोपपद्यते ।
तत्तेषामेव दौर्गुण्यं, ज्ञेयं भगवतो न तु ॥६॥

अर्थ - जीवादि तत्त्व संबंधी यह वाणी अभव्यों के संबंध में परिणाम नहीं पाती, इसका कारण उनका (अभव्यों) का ही दोष हैं, न कि भगवान का ।

दुष्टश्चाभ्युदये भानोः, प्रकृत्या क्लिष्टकर्मणाम् ।
अप्रकाशो ह्युलूकानां, तद्वदत्रापि भाव्यताम् ॥७॥

अर्थ - सूर्य का उदय होते ही स्वाभाविक क्लिष्ट कर्मवाला उल्लू आँखों से नहीं देख सकता, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । इसी प्रकार यहाँ भी विचारना ।

इयं च नियमाज्ज्ञेया, तथानन्दाय देहिनाम् ।
तदात्त्वे वर्तमानेऽपि, भव्यानां शुद्धचेतसाम् ॥८॥

अर्थ - वृद्ध दासी के दृष्टान्त के अनुसार देशना-समय पर और वर्तमान में भी भगवान की देशना शुद्ध चित्तवाले भव्य जीवों को अवश्य आनंद देती हैं ।

३२. अथ सिद्धस्वरूपाष्टकम्

कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो, जन्ममृत्ध्वादिवर्जितः ।
सर्वबाधविनिर्मुक्त, एकान्तसुखसङ्गतः ॥१॥

अर्थ - सकल कर्मों के क्षय से जन्म-मृत्यु आदि से रहित, सर्व प्रकार के दुःखों से विमुक्त, एकांत सुख से युक्त, मोक्ष होता हैं ।

यन्न दुःखेन सन्भिन्नं, न च भ्रष्टमनन्तरम् ।
अभिलाषाऽपनीतं यत्, तज्ज्ञेयं पदमं परम् ॥२॥

अर्थ - जो दुःख से मिश्रित नहीं हैं, सतत् और सदा रहता हैं, इच्छाओं से रहित हैं, वह परमपद हैं ।

कश्चिदाहाऽन्नपानादि - भोगाभावादसङ्गतम् ।
सुखं वै सिद्धिनाथानां, प्रष्टव्यः स पुमानिदम् ॥३॥

किम्फलोऽन्नादिसम्भोगो, बुभुक्षादिनिवृत्तये ।
तन्निवृत्तेः फलं कि स्यात्, स्वास्थ्यं तेषां तु तत्सदा ॥४॥

अस्वस्थस्यैव भैषज्यं, स्वस्थस्य तु न दीयते ।
अवाप्तस्वास्थ्यकोटीनां, भोगोऽन्नादेरपार्थकः ॥५॥

अकिञ्चित्करकं ज्ञेयं, मोहाभावाद्रताद्यपि ।
तेषां कण्ड्वाद्यभावेन, हन्त कण्डूयनादिवत् ॥६॥

अर्थ - मोक्ष में अन्न-पान आदि के भोगों का अभाव होने से सिद्धों को सुख नहीं हो सकता, ऐसा कोई कहता हैं। उससे पूछना चाहिए कि भाई ! अन्न-पानादि का भोग किसलिए करना हैं ? क्षुधा आदि की निवृत्ति के लिए ही न ? तो अब कहो कि क्षुधा आदि की निवृत्ति करने की क्या आवश्यकता ? यहाँ तुमको कहना ही पड़ेगा कि स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए क्षुधादि की निवृत्ति करनी पड़ती हैं।

क्षुधादि उत्पन्न होते ही अस्वस्थता उत्पन्न होती हैं। क्षुधा आदि जब तक दूर न हो तब तक अस्वस्थता दूर नहीं होती। इससे स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए क्षुधादि की निवृत्ति करने की जरूरत पड़ती हैं। अब इसका मतलब यह निकला कि जिसको क्षुधादि न हो उसको अस्वस्थता न होगी, स्वस्थता ही होगी, इससे अन्न-पान आदि भोग की जरूरत न पड़ेगी। कर्म के उदय से क्षुधादि उत्पन्न होते हैं। सकल कर्मों से मुक्त सिद्धों को क्षुधा आदि न होने से सदा स्वास्थ्य ही होता हैं।

अस्वस्थ को ही दवा दी जाती हैं, स्वस्थ को नहीं। वैसे ही सिद्धों को सर्वोच्च कोटि का स्वास्थ्य होने से अन्नादि का भोग निरर्थक हैं। उनको मोह का अभाव होने

से मैथुन आदि विषय सेवन भी निरर्थक हैं। खुजली की जरूरत किसे होगी ? जिसको खुजलाना हो उसे ही ना ? जैसे खुजली के अभाव में खुजलाने की जरूरत नहीं हैं, वैसे ही सिद्धों को मोह का अभाव होने से विषयसेवन की भी जरूरत नहीं ।

अपरायत्तमोत्सुक्य - रहितं निष्प्रतिक्रियम् ।
सुखं स्वाभाविकं तत्र, नित्यं भयवर्जितम् ॥७॥

अर्थ - मोक्ष में स्वाधीन, औत्सुक्य (इच्छा) से रहित, दुःखप्रतिकार की क्रिया से रहित, विनाश के भय से रहित, नित्य और स्वाभाविक (अनंतज्ञानादि चतुष्टय रूप) सुख होता हैं ।

परमानन्दरूपं तद्, गीयतेऽन्यैर्विचक्षणैः ।
इत्थं सकलकल्याण - रूपत्वात्साम्प्रतं ह्यदः ॥८॥

अर्थ - जैनेतर विद्वान मोक्षसुख को परमानंद रूप कहते हैं। इस प्रकार संपूर्ण सुख स्वरूप होने से मोक्ष-सुख ही युक्त (वास्तविक) सुख हैं ।

संवेद्यं योगिनामेत - दन्येषां श्रुतिगोचरः ।
उपमाऽभावतो व्यक्त - मभिधातुं न शक्यते ॥९॥

अर्थ - मोक्ष - सुख का अनुभव केवली (सिद्ध)

भगवंत ही कर सकते हैं। अन्य तो उसके स्वरूप को मात्र सुन सकते हैं, जान सकते हैं, वह भी संपूर्णतया तो नहीं। कारण कि मोक्ष सुख को कहने के लिए दृष्टान्त ही न होने से मोक्षसुख का व्यक्त (प्रकट) वर्णन नहीं किया जा सकता।

अष्टकाख्यं प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम्।
विरहात्तेन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः ॥१०॥

अर्थ – अष्टक नामक प्रकरण की रचना कर उपार्जित पुण्य से सर्व लोग पापों से मुक्त बनकर सुखी बनें।

● ● ●

: ज्ञान द्रव्य से लाभार्थी :

श्री मुनिसुव्रतस्वामी श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैन संघ

210/212, कोकरन बेसिन रोड,
विद्यासागर ओसवाल गार्डन,
कुरूक्कुपेट, चेन्नई 600021

BALARAM OFFSET
+91-9898034899